

जिनागमसार

लेखक

सिध्दान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रकाशक

रंजन राजीव जैन

भदैंनी, वाराणसी

पुस्तक नाम- जिनागमसार

लेखक- सिध्दान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

सम्पादन- डॉ. फूलचंद जैन प्रेमी, वाराणसी

प्रकाशक- रंजन राजीव जैन

भदैंनी वाराणसी-१

संस्करण- प्रथम श्रुतपंचमी १८ जून १९९९

मूल्य- स्वाध्याय

मुद्रक

बाबूलाल फागुल्ल

महावीर प्रेस भेलपुर, वाराणसी

'प्रकाशकीय'

मेरे बाबाजी पं. कैलाशचन्द्र जी सिध्दान्त शास्त्री के व्यक्तित्व और कर्तृत्व से अच्छी तरह से समाज परिचित है । उन्होंने अपना ज्ञान समाज को अपरिमित दिया है, यह बात चिरपरिचित है । उनका श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अत्यधिक था उनकी एक कृति "जिनागमसार" मेरे पास थी । वह यथानाम तथा गुण है । श्रावक (गृहस्थ) समाज और साधु समाज के उपयोग रूप संक्षिप्त वर्णन है, जिसके पढने से सहज ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो सकता है । यही समझकर इसको प्रकाशित कराने के भाव हुए है । यह स्व-पर के कर्मों की निर्जरा का कारण है ।

हमारे पूज्य बाबाजी का जीवन प्रशस्त, प्रभावक तथा प्रामाणिक रहा है । कारण के बिना कार्य नहीं होता तथा इसके प्रकाशनकी अब काललब्धि आ गई इसीलिए पाँचों समवाय संग्रही हो गए हैं । आचार्य श्री सन्मत्तिसागर जी, ऐलाचार्य शुभसागर जी, उपाध्याय समतासागर जी, मुनि सुविधिसागर जी, मुनि समन्वयसागर जी, मुनि समयसागर जी, मुनि श्रुतसागर जी, मुनि सहजसागर जी, मुनि सुज्ञान सागर जी, मुनि श्रेष्ठ सागरजी, मुनि सुंदरसागर जी, मुनि सुनीलसागर जी, मुनि सुरदेवसागर जी, आर्यिका दर्शनमति जी, आर्यिका सुबुद्धिमति जी, आर्यिका सुविधीमति जी, आर्यिका सुयोगमति जी, आर्यिका शरणमति जी, आर्यिका शीतलमति जी, ऐलक सुभद्रसागर जी, क्षुल्लक समितिसागरजी के सानिध्य एवं डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी के संयोजकत्व मे अष्टपाहुड ग्रन्थरत्नकी वाचना हुई तथा २० वीं सदी के प. पू. प्रथमाचार्य श्री आदिसागर जी महाराज अंकलीकर का ८५ वाँ आचार्य पदारोहण स्मृति दिवस तथा श्रुत पंचमी का आयोजन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी १८ जून १९९९ को तीर्थकर पार्श्वप्रभु की जन्मस्थली भेलूपुर में आयोजित है ।

संध एवं श्रुतपंचमी को पर्व का स्मरण कर यह प्रसन्नता की बात है । इस लघु कृति के अच्छे सम्पादन का कार्य डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी ने किया है । इनके प्रति कृतज्ञता के साथ अपने बाबाजी की स्मृति में इस जिनागम का सार का प्रकाशन हो रहा है आशा है सुज्ञानी जन इस कृति से लाभान्वित होंगे ।

रंजन जैन

राजीव जैन

प्रस्तुत कृति एवं कृतिकार

प्रस्तुत "जिनागम सार" नामक कृति परमश्रद्धेय गुरुवर्य सिध्दान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री (जन्म कार्तिक शुक्ल १२ वि. सं. १९६० एवं मृत्यु दिनांक १७-११-८७) की अन्तिम कृति है, जिसे वे अपने स्वास्थ्य की प्रतिकूलता के कारण पूर्ण नहीं कर सके । प्रस्तुत कृति के अध्ययन से स्पष्ट है कि वे जैन आगम के प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग- इन चारों अनुयोगों के सार को, जिस प्रकार उन्होंने अपने सुदीर्घ अध्ययन-अध्यापन, ज्ञान और अनुभव से जाना था, उसे बिना किसी ग्रन्थों के सन्दर्भों के संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु स्वास्थ्य लाभ हेतु उन्हें बीच में ही अपने सुपुत्र श्री सुपार्श्वकुमारजी के यहाँ रांची जाना पडा । इसमें उनकी कहीं-कहीं उस्पष्ट लेखनी से भी उनके स्वास्थ्य की प्रतिकूलता ज्ञान हाती है । प्रस्तुत कृति के नाम और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह इस कृति का आरम्भ मात्र लगता है किन्तु इसमें जितना वे लिख पाये वह कितना सारगर्भित, सुसम्बद्ध और प्रामाणिक है- यह लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

हमें उनके अनन्य शिष्य होने का गौरव तो है ही साथ ही हम सभी यह भी जानते हैं कि उन्हे स्याद्वाद महाविद्यालय, शास्त्रों का अध्ययन और लेखन कार्य- ये तीन चीजें कितनी अनिवार्य थीं । रांची जाने के बाद इन तीनों के अभाव में उनके मन की आकुलता और चिन्ता बढ़ती ही गई थी । वस्तुतः पूज्य पं. जी के गौरवपूर्ण सुदीर्घ जीवन की सहस्त्रों उपलब्धियाँ हैं । जैनधर्म और साहित्य के इतिहास को सुसम्बद्ध रूप में लिखने का प्रथम श्रेय उन्ही को जाता है । जहाँ उन्होंने अनेक चिन्तन करके मौलिक ग्रन्थों का सृजन किया वहीं अनेक महत्वपूर्ण प्राचीन शास्त्रों का सम्पादन और अनुवाद करके उन्होने उनके अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त किया । जनसामान्य के लिए जैन धर्म और चारों अनुयोगों का सहज रूप में

ज्ञान कराने और इनके प्रति रुचि जागृत करने हेतु उनकी प्रथमनुयोग प्रवेशिका, करणानुयोग प्रवेशिका आदि लघु ग्रन्थ तथा जैनधर्म नामक प्रसिद्ध कृति आज भी काफी लोकप्रिय है । भा. दि. जैन संघ मथुरा से प्रकाशित साप्ताहिक "जैन संदेश" पत्र के तो वे अनेक दशकों तक आजीवन सम्पादक रहे, और अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों तथा सामयिक सम्पादकीय वक्तव्यों से समाज में जागृति और क्रान्ति के तो वे सर्जक ही थे । जितनी प्रभावपूर्ण उनकी लेखनी वैसी ही प्रभावक और तेजस्वी उनकी वक्तव्य शैली थी । श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में दीर्घकाल तक सफल प्राचार्य एवं श्रेष्ठ अध्यापक के रूप में जैन सिध्दान्त और दार्शनिक ग्रन्थों के अध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य द्वारा विद्यमान हजारों की संख्या में उनकी शिष्य

मण्डली आज भी समाज, संस्कृति की सेवा में देश के विभिन्न क्षेत्रों में संलग्न रहकर उनके प्रति कृतज्ञता से अभिभूत है ।

प्रस्तुत कृति पूज्य पं. जी के पौत्र श्री राजीव जैन, वाराणसी के माध्यम से परमपूज्य आचार्यश्री आदिसागरजी (अंकलीकर) के तृतीय पट्टाधीश तपस्वी सम्राट आचार्यश्री सन्मतिसागरजी महाराज को वाराणसी में ससंघ ग्रीष्मयोग के समय प्राप्त हुई । आपने इस कृति को व्यवस्थित करके प्रकाशन योग्य बनाने हेतु मुझे कार्य सौंपा । यद्यपि यह लघु कृति है और वह भी पूज्य पं. जी के सिद्धहस्त विद्वान की होने से मुझे इसमें शीर्षकों आदि के अलावा विषय वस्तु में विशेष श्रम नहीं करना पडा । एक बार मन में आया कि इनके अन्यान्य ग्रन्थों से सम्बद्ध विषय सामग्री का संकलन कर इस कृति के नाम के अनुरूप बना दूँ, किन्तु श्रुतपंचमी पर इसके शीघ्र प्रकाशन हेतु समय की कमी के कारण वैसा नहीं कर सका । अन्यथा पूज्य पं. जी की विविध कृतियों में इतनी पर्याप्त उत्कृष्ट विषयवस्तु है कि उनकी इच्छानुसार इस कृति को पूर्ण कर इसके नाम की सार्थकता साकार हो सकती है । पूज्य पं. जी जे इस पुस्तक की पाण्डुलिपी के अन्त में आचार्य इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार का हिन्दी अनुवाद भी प्रारम्भ किया था किन्तु वे मात्र आरम्भिक कुछ अंश का अनुवाद कर सके । उसकी पूर्ति के रूप में श्रुतावतार कथा को संक्षेप में श्रुत-अवतरण शीर्षक से पूज्य आचार्यश्री के आदेश से विद्वान मुनिश्री सुनील-सागरजी महाराज ने लिखा । अतः इन पूज्यों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं कि उन्होंने श्रुत पंचमी पर्व पर दि. १८ से २० जून १९९९ तक भा. विद्वत् परिषद् की ओर से आचार्यश्री के सानिध्य में चली चालीस दिवसीय आ. कुन्दकुन्द रचित 'अष्टपाहुड' वाचना समापन के अवसर पर आयोजित आचार्य पदारोहण एवं संगोष्ठी आदि त्रिदिवसीय कार्यक्रमों के शुभावसर पर इस कृति का प्रकाशन कराके पूज्य पं. जी की एक नवीन कृति से राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ाया । पूज्य पं. जी के दोनों पौत्रों श्री रज्जन एवं राजीव जैन ने इसके प्रकाशन का पुण्यार्जन कर महान् कार्य किया है । इसके सुन्दर प्रकाशन हेतु हम महावीर प्रेस के व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्लजी के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं ।

श्रुतपंचमी पर्व

दि. १८-०६-१९९९

डॉ. फलचन्द जैन प्रेमी

रीडर एवं अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

जिनागम तथा उसकी रचना का इतिवृत्त

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द लवलीन
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित अरि रज रहस विहीन ॥

अन्तिम तीर्थकर श्री वर्धमान स्वामी के निर्वाण पधारने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए । उनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी हुए । तब तक तो द्वादशांग शास्त्र की प्ररुपणा से व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्त ही हुआ । पीछे कालदोष से अंगो के ज्ञान की व्युत्थिति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी भये । और कुछ श्वेतांबर भी हो गये । उन्होंने शिथिलाचर का पोषण करने के लिए पृथक सूत्र ग्रन्थों की रचना की । जो प्राचीन सूत्र ग्रन्थों की आज्ञा में चलते रहे वे दिगम्बर कहलाये । इनके सम्प्रदाय में भगवान् वर्धमान स्वामी के निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे दूसरे भद्रबाहु स्वामी हुए । उनकी परम्परा में अनेक मुनि हुए उन्होंने सिध्दान्तों की प्रवृत्ती करी, उसे लिखते हैं-

एक तो धरसेन मुनि हुए उन्हें अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु अधिकार के महाकर्म प्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृत का ज्ञान था । उन्होंने यह प्राभृत भूतबलि पुष्पदन्त नाम दोनों मुनियों को पढाया । उन दोनों मुनियों ने षट्खण्डागम सूत्र की रचना कर उसे पुस्तकबद्ध किया । उनके पीछे जो मुनि हुए उन्होंने उनकी टीका धवल, महाधवल और जयधवल आदि सिध्दान्त रचे । उनको पढकर आचार्य नेमिचन्द्र सिध्दान्त चक्रवर्ती आदि ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदिकी रचना की । यह तो प्रथम सिध्दान्त की उत्पत्ति हुई । उनमें जीव और कर्म के संयोग से हुई जो आत्मा की संसार पर्याय है उसका विस्तार गुणस्थान मार्गणारूप से इनमें वर्णन है । यह कथन तो पर्यायार्थिक नय प्रधान है । इस नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं । तथा अध्यात्म भाषा में अशुद्ध निश्चय या व्यवहार कहते हैं ।

एक गुणधराचार्य नामक मुनि हुए । उन्हें ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशम वस्तु सम्बन्धी तीसरे प्राभृत का ज्ञान था । अतः इस आधार पर 'कसायपाहुड' नामक महाशास्त्र की रचना की । उस प्राभृत को नागहस्ती नामक मुनि ने पढा । उन दोनों से यतिवृषभ मुनि ने उस कषायप्राभृत को पढा । उन्होंने उसकी चूर्णिका

रूप छह हजार सूत्रों का शास्त्र रचा । उसकी टीका उच्चारणाचार्य ने रची । इनके बाद आचार्य कुन्दकुन्द मुनिराज हुए । वे उन सिद्धान्तों के ज्ञाता हुए। इस प्रकार इस दूसरे सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई । इसमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन है । उसमें पर्यायार्थिक नय को गौणकर व्यवहार वह असत्यार्थ कहा है । जहाँ तक पर्याय बुद्धि रहे वहाँ तक इस जीव के संसार है । जब शुद्ध नय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि हो अपने आत्मा को अनादि, अनन्त, एक, सर्वपर द्रव्य परभावों के निमित्त से भये अपने भावों को भिन्न जाने अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर शुद्धोपयोग में लीन हो, तब कर्म का अभाव कर निर्वाण को प्राप्त होता है । या प्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त सेवी परम्परा से शुद्ध नय के उपदेश के शास्त्र पंचास्तिकाय, प्रवचन सार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि रचे गये । इनमें कुन्दकुन्दकृत समयसार शास्त्र है उसकी आत्मख्याति टीका अमृतचन्द्र आचार्य ने रची है । यह तो सत्य है कि इनमें कथन शुद्ध नय ही का है । परन्तु जहाँ अशुद्ध नय रूप व्यवहार धर्म का कथन है वहाँ आचार्य ऐसे भी कहते गये हैं जो पहली अवस्था में वह व्यवहार नय हस्तावलम्ब रूप है, उपर चढने को पैडी रूप है । अतः कथंचित् कार्यकारी है । उसको गौण करने से ऐसा मन जानना जो आचार्य व्यवहार को सर्वथा छुडाते है । आचार्य तो उपर चढने को नीचे की पैडी छुडाते है और जब अपने स्वरूप की प्राप्ति होगी तब तो शुद्ध अशुद्ध दोनों नयों का आलम्बन छूटेगा । नयका आलम्बन तो साधक अवस्था में है । ऐसे ग्रन्थ में जहाँ तहाँ कथन है । उसको यथार्थ समझने से श्रद्धान का विपर्यय नहीं होगा । जो यथार्थ समझेंगे उनकी व्यवहार चारित्र से अरुचि नही होगी और जिनका होनहार ही खोटा होगा वे तो शुद्ध नय सुन तथा अशुद्ध नय सुन विपरीत ही समझेंगे । उनको तो सभी उपदेश निष्फल हैं ।

सम्पूर्ण जैनागम का चार अनुयोगों में विभाजन

श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा उपदिष्ट आगम चार अनुयोग में विभाजित हैं। उनके नाम प्रथमानुयोग, करणानुपयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग है ।

इनमें तीर्थकरदेव के पाँच कल्याणकों का, चक्रवर्ती, नारायण आदि का, मोक्षगीमी पुरुषोंका, पुण्य पाप के फल का कथन जिसमें हो वह प्रथमानुयोग है ।

नरक स्वर्ग, मध्य लोक के क्षेत्र का, आयु का प्रमाण, द्वीप समुद्रों का कथन, पत्य, सागर, पंचपरावर्तन काल, मेरु, कुलाचल क्षेत्र आदि का गणित, आठ कर्मों की प्रकृतियों का कथन, गुणस्थानों, मार्गणाओं का कथन जिसमें होता है वह करणानुयोग है । यहाँ उसका सार कहते हैं -

लोक और उनका आकार-

लोक के तीन भेद हैं- अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक या देवलोक ।

एक पुरुष दोनों पैर फैलाकर और अपने दोनों हाथ दोनों ओर कटि पर रखकर खड़ा हो, उसका जैसा आकार बने वैसा ही लोक का आकार है । उसके नीचे के भाग को अधोलोक कहते हैं ।

१. अधोलोक

इसमें सात नरक नीचे-नीचे हैं । उनके नाम-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुका प्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा । ये सात प्रथिवियां घनोदधि वातवलय, घनवात वलय, तनुवात वलय और आकाश के आधारपर स्थित है । इनमें नारकियों का निवास है । उनके बिलों का प्रमाण प्रथम नरक में तीस लाख, दूसरे में पच्चीस लाख, तीसरे में पन्द्रह लाख, चौथे में दस लाख, पाँचवे में तीन लाख, छठें में पाँच कम एक लाख और सातवें में पाँच बिलें है ।

नरकों में पाँच प्रकार का दुःख है- असुरकुमार जाति के देवों का गमन तीसरे नरक तक होता है । व वहाँ जाकर परस्पर में कलह कराते हैं । नारकियों को शारीरिक और मानसिक दुःख होता है । उन्हें भूख प्यास की वेदना सताती है । शीत और उष्णता की वेदना सताती है । उनकी आयु प्रथम नरक में जघन्य दस हजार वर्ष, उत्कृष्ट एक सागर प्रमाण है । दूसरे में जघन्य आयु एक सागर प्रमाण और उत्कृष्ट तीन सागर प्रमाण है । तीसरे में जघन्य तीन सागर और उत्कृष्ट सात सागर प्रमाण आयु है । चौथे में जघन्य सात सागर प्रमाण और उत्कृष्ट दस सागर प्रमाण आयु है । पाँचवे नरक में जघन्य दस सागर और उत्कृष्ट दस सागर और उत्कृष्ट सतरह सागर प्रमाण है । छठें में जघन्य सतरह सागर और उत्कृष्ट बाईस सागर है । सातवें में जघन्य बाईस सागर और उत्कृष्ट तेतीस सागर है । उनका मरण

अकाल में नहीं होता । वे जीवन भर कष्ट भोगते हैं । अतः पाप को त्याग कर धर्म में रुचि करना चाहिए-
ऐसा जिनोपदेश है ।

२. मध्य लोक

जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है । उसमें भरत क्षेत्र का विस्तार

पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग हैं । हिमवान पर्वत का विस्तार एक हजार बावन योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से बारह भाग हैं । हैमव्रत क्षेत्र का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन और पाँच भाग प्रमाण है । महामहिमवान पर्वत का विस्तार चार हजार दो सौ दस योजन और दस भाग प्रमाण हैं । हरिवर्ष क्षेत्र का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन और एक भाग प्रमाण हैं । निषध पर्वत का विस्तार सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन और दो भाग प्रमाण है । विदेह क्षेत्र का विस्तार तेतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और चार भाग प्रमाण है । नील पर्वत का विस्तार सोलह हजार आठ सौ बयालीस योजन और दो भाग प्रमाण हैं । रम्यक क्षेत्र का विस्तार आठ हजार चार सौ इक्कीस योजन और एक भाग प्रमाण हैं । रुक्मी पर्वत का विस्तार चार हजार दो सौ दस योजन और दस भाग प्रमाण हैं । हैरण्यवत क्षेत्र का विस्तार दो हजार एक सौ पाँच योजन और पाँच भाग प्रमाण हैं । शिखरीपर्वत का विस्तार एक हजार बावन योजन और बारह भाग प्रमाण हैं । ऐरावत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और छह भाग प्रमाण हैं ।

इस प्रकार एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बे भाग करने पर एक भाग प्रमाण भरत क्षेत्र है । इससे दूना पर्वत और पर्वत से दूना क्षेत्र का विस्तार विदेह क्षेत्र तक जानना । तथा उधर ऐरावत क्षेत्र से दूना दूना विस्तार विदेह क्षेत्र तक जानना ।

भरत क्षेत्र में काल का परिवर्तन

भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का प्रवर्तन होता है । दोनों कालों का प्रमाण दस दस कोडा कोडी सागर है और प्रत्येक के छह छह भेद हैं ।

अवसर्पिणी काल के छह कालों में से प्रथम काल में उत्तम भोगभूमि रहती हैं । उसमें युगल पैदा होते हैं । उनकी आयु तीन पल्य और शरीर का प्रमाण तीन कोस होता है । दस प्रकार के कल्पवृक्षों से इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है । उनमें राजा-प्रजा का भेद नहीं होता । जब आयु नौ मास शेष रहती है तब गर्भ रहता है । पुत्र-पुत्री का जन्म होते ही माता पिता को छींक और जम्हाई आती है और उनका मरण हो जाता है । और वे दोनों पुत्र पुत्री उनंचास दिन में जवान होकर भोग भोगने में समर्थ हो जाते हैं । यह सुषमा-सुषमा नामक प्रथम काल की स्थिति है ।

दूसरे काल में मध्यम भोगभूमि होती है दो पल्य की आयु होती है । और दो कोस का शरीर । इस काल का नाम सुषमा है । पहले काल का प्रमाण चार कोडा कोडी सागर है । और दूसरे का तीन कोडा कोडी सागर ।

तीसरे काल का प्रमाण दो कोडा कोडी सागर है । उसमें जघन्य भोगभूमि रहती है । एक पल्य की आयु और एक कोस का शरीर रहता है । उसका नाम सुषम दुषमा है । एक पल्य का आठवां भाग शेष रहने पर क्रम से १४ कुलकर होते हैं ।

चौथे काल का नाम सुषमा है । इसमें कर्मभूमि रहती है । कल्पवृक्ष समाप्त हो जाती हैं । बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडा कोडी काल में तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, प्रतिनारायण, कामदेव, नारद, रुद्रादि पदधारी पुरुष होते हैं । मोक्षगामी पुरुष मोक्ष जाते हैं ।

पाँचवे काल में उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष होती है चतुर्थ काल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति पंचम काल में मोक्ष जा सकता है । किन्तु पंचम काल का उत्पन्न व्यक्ति मोक्ष नहीं जा सकता । इस काल का नामा दुषमा है । इसमें धर्म, आयु और काम का प्रमाण घटता जाता है । क्रोध, मान, माया, लोभ बढ़ता जाता है । मिथ्यात्व की अधिकता, भोगों की लुब्धता, छल कपट हिंसा और सप्तव्यसन बढ़ते जाते हैं ।

छठे काल का नाम दुषमा दुषमा है । इनका प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है । इसमें मनुष्य पशु के समान अविचारी होते हैं । माता पुत्री बहन का विचार नहीं करते । मांसाहारी और दयारहित होते हैं ।

अवसर्पिणी काल के दस कोडा कोडी सागर पूर्ण होने पर उत्सर्पिणी काल लगता है । उसमें इक्कीस हजार वर्ष का छठा काल और इक्कीस हजार वर्ष का पाँचवा काल, इस तरह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडा कोडी सागर काल में तीर्थकर आदि महापुरुषों की उत्पत्ति होती है । उसके बाद तीसरा

काल दो कोडा कोडी सागर का आता है । उसमें जघन्य भोगभूमि रहती है । उसके बाद तीन कोडा कोडी सागर का पहला काल आता है । उसमें उत्तम भोगभूमि रहती है । इस प्रकार उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल बीस कोडा कोडी सागर काल तक रहते हैं । भरत और ऐरावत क्षेत्र में इन कालों का प्रवर्तन होता रहता है ।

हैमवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि, हरिवर्ष में मध्यम भोगभूमि तथा विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थकाल रहता है । उसमें तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष उत्पन्न होते हैं । मोक्षमार्ग शाश्वत रहता है । मुनि-श्रावक का धर्म सदा रहता है । विभग नदी और वक्षारगिरि पर्वतों से विभाग होने से बत्तीस विदेह हैं । एक एक विदेह सम्बन्धी एक एक विजयार्धपर्वत, एक एक आर्यखण्ड और पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड हैं ।

जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है । उसके ऊपर पाण्डुक शिला है । उसकी चारों दिशाओं में भगवान का जन्माभिषेक होता है । दक्षिण दशा में पाण्डुक शिला पर भरतक्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है । उत्तर दिशा की ओर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है । पूरब दिशा की ओर पूरब विदेह के तीर्थकरों का और पश्चिम दिशा की ओर पश्चिम विदेह के तीर्थकरों का जन्माभिषेक होता है ।

सुदर्शन मेरु सम्बन्धी अकृत्रिम जिनालय

सुदर्शन मेरु की चोटी चालीस योजन ऊँची है । उसमें और प्रथम स्वर्ग के प्रथम विमान में बालमात्र का अन्तर है । पृथ्वी पर मेरु की उत्तर दिशा में उत्तर कुरु नामक उत्कृष्ट भोगभूमि है और दक्षिण दिशा में देवकुरु नामक भोगभूमि है । इत्यादि कथन अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए । यहाँ संक्षेप में लिखा है ।

रम्यक क्षेत्र में सदा मध्यम भोगभूमि रहती है । हरिवर्ष क्षेत्र में सदा जघन्य भोगभूमि रहती है । ऐरावत क्षेत्र में षट्काल की रीति चलती है ।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं । छह पर्वतों के ऊपर पद्म आदि तालाब हैं । उनसे गंगा, सिन्धु, रोहित रोहितास्य, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, स्वर्णकूला, रूपकूला, रक्ता, रक्तोदा-ये चौदह महानदियाँ निकली हैं । इनमें से प्रथम और अन्तिम तालाब से तीन तीन और शेष से दो-दो नदियाँ निकली हैं । इस प्रकार जम्बूद्वीप का संक्षेप कथन जानना ।

जम्बूद्वीप को घेरे हुए गोलाकार लवण समुद्र दो लाख योजन विस्तार वाला है । लवण समुद्र को घेरे हुए धातकी खण्ड द्वीप चार लाख योजन विस्तारवाला है । उसमे इष्वाकार दो पर्वत हैं तथा विजय और अचल नामक दो मेरु हैं । उसकी सब रचना जम्बू द्वीप से दूनी है । धातकी खण्ड को घेरे हुए गोलाकार कालोदधि समुद्र आठ लाख योजन विस्तार वाला है । उसको घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तारवाला पुष्कर द्वीप है । उसके अर्धभाग में क्षेत्र पर्वत आदि की सब रचना धातकी द्वीप की तरह है । उसमें भी दो मेरु है । उसके अर्ध भाग में मानसोत्तर पर्वत है । पुष्कर द्वीप से आगे असंख्यात द्वीप समुद्र है । उनमें क्षेत्र पर्वत आदि का रचना नहीं है । अढाई द्वीपों में ही मनुष्यों का आवास है, वहीं से मुक्ति होती है ।

३. देव लोक

देवों के चार प्रकार हैं - भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक । भवनवासी के दस भेद हैं- असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, पवनकुमार, स्तनित कुमार, उदधिकुमार, द्वीप कुमार, औ दिक्कुमार ।

व्यन्तरों के आठ प्रकार हैं- किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच ।

ज्योतिषी देवों के पाँच प्रकार हैं- सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे । इन तीन प्रकारके देवों को भवनत्रिक कहते हैं ।

वैमानिक देवों के दो प्रकार हैं कल्पवासी और कल्पातीत । कल्पवासी देव सोलह स्वर्गों में रहते हैं । उनके आठ युगल हैं । एक-एक में दो स्वर्ग ऊपर-ऊपर हैं उनके नाम-सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत । उनके उपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश ओर पाँच अनुत्तर हैं । उनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि हैं । इनमें से चार विभागों में एक भवावतारी और दो भवावतारी जन्म लेते हैं । किन्तु सर्वार्थसिद्धि में एक भवावतारी और दो भवावतारी जन्म लेते हैं । किन्तु सर्वार्थसिद्धि में एक भवावतारी ही जन्म लेते हैं । पंचम स्वर्ग के अन्त में लौकान्तिक देव रहते हैं । जो एक भवावतारी होते हैं ।

प्रथम दो स्वर्गों में मनुष्यों के समान कामभोग होता है । उससे ऊपर के दो स्वर्गों में आलिगन मात्र होता है । उससे ऊपर के चार स्वर्गों में रूपको देखने से ही सन्तुष्टि हो जाती है । उनसे ऊपर से चार स्वर्गों में शब्द सुनने से ही सन्तुष्टि हो जाती है । ऊससे ऊपर के चार स्वर्गोंमें अपनी अपनी देवांगना का

मन में विचार करने से ही सन्तुष्टि हो जाती हैं । इस तरह सोलह स्वर्ग तक स्पर्श, रूप, शब्द और मन से कामसेवन होता है । आगे देवांगना नहीं है और कामभोग भी नहीं है । ऊपर-ऊपर के देव, आयु, प्रभाव और शक्ति में अधिक-अधिक है गति, शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान में हीन हीन हैं । प्रथम चार स्वर्गों में पीत लेश्या है । उनसे ऊपर छह स्वर्गों में पद्मलेश्या है । आगे शुक्ललेश्या है ।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु असुरकुमारों की एक सागर, नाग कुमारों की तीन पत्य, सुपर्ण कुमारों की ढाई पत्य, द्वीपकुमारों की दो पत्य, शेष छह कुमारों की डेढ डेढ पत्य है । व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पत्य से कुछ अधिक है । जघन्य आयु दस हजार वर्ष है ।

सोलह स्वर्गों की आयु

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में दो सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु है । सानत्कुमार, माहेन्द्र में सात सागर से कुछ अधिक है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में दस सागर से कुछ अधिक है । लान्तव, कापिष्ठ में चौदह सागर से कुछ अधिक है । शुक्र, महाशुक्र में सोलह सागर से कुछ अधिक है । शतार, सहस्त्रार में अठारह सागर से कुछ अधिक है । आनत प्राणत में बीस सागर । आरण अच्युत में बाईस सागर है । नौ ग्रैवेयक में एक एक सागर बढ़ती हुई इकतीस सागर है । नौ अनुदिश में बत्तीस सागर और पाँच अनुत्तरों में तैतीस सागर उत्कृष्ट स्थिती है । सौधर्म, ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पत्य से कुछ अधिक है । और आगे जो पहले युगल में उत्कृष्ट है वह दूसरे युगल में जघन्य है । ऐसा सब युगलों में जानना ।

बीस प्ररुपणायें

षट्खण्डागम की टीका धवला जी में तथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में कहा है इ

गुणजीवा पज्जती पाणा सण्णा य मग्गाणाओ य

उवओगो वि य कमसो वीसं तु परुवणा भणिदा ॥२॥

अर्थात् गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग-ये बीस प्ररुपणाएं कही हैं ।

मार्गणायें-

गइ इंदियं च काये जोए वेए कसाय णाणे य ।

संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त साण्णि आहारे ॥गो.जी.॥१४२॥

अर्थात् गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहार-ये चौदह मार्गणां हैं ।

इस प्रकार पूर्वोत्तर चौदह गुणस्थान आदि छह तथा चौदह मार्गणाओं को मिलाकर बीस प्ररूपणायें बनती हैं ।

१) ज्ञाणा वि य पच्चावि य जोणि कुल कोडि संजदा सत्त्वे ।

गाहातियेण सहिया कमेण चौबीस ठाणाणि ।।

अर्थात् ध्यान, आस्त्रव के कारण, योनि और कुल-ये सब मिलकर चौबीस स्थान होते हैं । इनका कथन करते हैं-

२. गुणस्थान- मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय, सयोग केवली, अयोग केवली-ये चौदह गुणस्थान हैं ।

३. जीवसमास- पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, नित्य निगोद, इतर निगोद-ये सातों वादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के होने से १४ होते हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असैनी और सैनी इस प्रकार उन्नीस होते हैं ।

४. पर्याप्ति- आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति, मनःपर्याप्ति-ये छहः पर्याप्तियाँक हैं ।

५. प्राण- पाँच इन्द्रियबल प्राण, तीन मन वचन कायबल, श्वासोच्छ्वास प्राण, आयुप्राण-ये दस प्राण हैं ।

६. संज्ञा- आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा-ये चार संज्ञायें हैं ।

७. उपयोग- इसके मुख्यतः दो भेद हैं- ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान कुअवधिज्ञान-ये आठ ज्ञानोपयोग हैं । चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन-ये चार दर्शनोपयोग हैं । इस प्रकार उपयोग के बारह भेद हैं ।

८. ध्यान- आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान-इस प्रकार ध्यान के मुख्यतः चार भेद हैं ।

आर्तध्यान के चार भेद हैं- इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीडा चिन्तवन, निदान ।

रौद्रध्यान के चार भेद हैं - हिंसानन्दि, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी परिग्रहानन्दी ।

धर्मध्यान के चार भेद हैं- आज्ञाविचय, अपाय विचक, विपाक विचय, संस्थान विचय ।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं- पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ।

व्युपरक्रियानिवृत्ती- इस तरह सब ध्यान १६ हैं ।

९. आस्त्रव के चार कारण हैं - मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ।

मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं- एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ।

अविरति के बारह भेद हैं - पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं करना और छह काय के जीवों की रक्षा नहीं करना ।

योग के पन्द्रह भेद हैं - चार मनोयोग, चार वचन योग और सात काययोग ।

कषाय के पच्चीस भेद हैं - अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ । प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान माया, लोभ । तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद । इन सबको मिलाने से $५+१२+१५+२५=५७$ भेद आस्त्रव के द्वार होते हैं । इनके द्वारा जीवों के निरन्तर कर्मों का आस्त्रव होता है ।

१०. योनि के भेद - ये चौरासी लाख हैं - निय्य, निगोद, इतर निगोद, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय में से से प्रत्येक की सात सात लाख योनियाँ होती हैं । वनस्पतिकाय की दस लाख योनियाँ हैं । दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय की छह लाख योनियाँ हैं । देव, नारकी और तिर्यञ्चों में से प्रत्येक की चार लाख योनियाँ हैं और मनुष्यों की १४ लाख योनियाँ हैं - ये सब ८४ लाख योनियाँ हैं ।

पृथ्वीकाय के कुल बाइस लाख कोटि हैं । जलकाय के सात लाख कोटि हैं । अग्निकाय के तीन लाख कोटी हैं । वायुकाय के सात लाख कोटि हैं । वनस्पति के अठाईस लाख कोटि हैं । दोइन्द्रिय के सात लाख कोटी, तेइन्द्रिय के सात लाख कोटि, चौइन्द्रिय के नौ लाख कोटि, नारकियों के पच्चीस लाख कोटि, देवों के छब्बीस लाख कोटि, तिर्यचों के तैतालीस लाख कोटि, मनुष्यों के चौदह लाख कोटि कुल हैं ।

११. लेश्या- लेश्याएं छह हैं- कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म, शुक्ल ।

एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में लेश्या होती हैं । पर मनोयोग नहीं होता । कषायोदय से अनरंजित योग परिणाम लेश्या हैं । केवली के शुक्ल लेश्या होती हैं । प्रथम तीन अशुभ लेश्या हैं, जो

मोह कर्म के उदय से होती हैं । शुभ भाव लेश्याओं को धर्म लेश्या कहा है । उनसे कर्म का क्षय होता है । उनसे पुण्य का बन्ध होता है ।

नरक में तीन अशुभ लेश्या बतलाई हैं । देवों में अलग-अलग लेश्याएँ बतलाई गई हैं ।

शरीर के प्रकार

शरीर के पाँच प्रकार हैं- औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण । ये शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हैं किन्तु पौद्गलिक प्रदेशों की अपेक्षा औदारिक से वैक्रियिक तथा वैक्रियिक से आहारक असंख्यात गुणे प्रदेशवाला है और आहारक से तैजस तथा तैजस से कार्मण अनन्त गुणे प्रदेशी है ।

तैजस कार्मण का जीव के साथ अनादि सम्बन्ध है । जब तक जीव मोक्ष प्राप्त नहीं करता, तब तक इनका सम्बन्ध नहीं छूटता । मनुष्यों और तिर्यञ्चों के औदारिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर होते हैं । तथा देवों और नारकियों के वैक्रियिक, तैजस, कार्मण ये तीन शरीर होते हैं । मनुष्यों के तप के प्रभाव से वैक्रियिक, तैजस, कार्मण- ये तीन शरीर होते हैं । मनुष्यों के तप के प्रभाव से वैक्रियिक शरीर होता है । और तप के प्रभाव से शुभ, अशुभ, तैजस प्रकट होता है । जब मुनि को किसी कारण से क्रोध कषाय उत्पन्न होती है तब बाएँ कन्धे से एक हाथ का पुतला निकलकर द्वारिका नगरी की तरह भस्म करता है । और दुर्भिक्ष से पीडित देखकर करुणा भव से दाहिने कन्धे से एक हाथ का पुतला शुभ तैजस शरीराकार निकलकर दुर्भिक्ष दूर कर आता है । साधु को तत्व में शंका होने पर या जिनालयादि की वन्दना करने की भावना होने पर उनके उत्तमांग से पुतला निकलकर यह काम कर आता है उसे आहारक शरीर कहते हैं । यह शरीर भी सूक्ष्म होता है ।

जब जीव मरण करके नया जन्म लेने जाता है तब उसके तैजस और कार्मण- ये दो ही शरीर रहते हैं । नया जन्म धारण करते ही तीसरा शरीर उत्पन्न हो जाता है ।

१४ मार्गणाओं के भेद

१. गति मार्गणा चार- देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति ।
२. इंद्रिय मार्गणा पाँच- एकन्द्री, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय ।
३. कायमार्गणा छह - पाँच स्थावर काय, एक त्रसकाय

४. योगमार्गणा १५ इ चार मनोयोग-सत्य, असत्य, उभय, अनुभय । चार वचनयोग-सत्य असत्य, उभय, अनुभय ।
- सात काययोग- औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्माण ।
५. वेद तीन - स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ।
६. २५ कषाय १६ कषाय और नौ नोकषाय ।
७. ज्ञान मार्गणा आठ - पाँच सम्यक् ज्ञानरूप, तीन मिथ्याज्ञान रूप ।
८. संयम मार्गणा के सात भेद - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहा-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात, असंयम और संयमासंयम ।
९. दर्शन मार्गणा चार- चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवलदर्शन ।
१०. लेश्यामार्गणा छह- कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ।
११. भव्य मार्गणा दो भेद - भव्यत्व अभव्यत्व ।
१२. सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद - उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व, मिश्र, सासादन सम्यक्त्व और मिथ्यात्व ।
१३. संज्ञी मार्गणा के दो भेद- संज्ञी और असंज्ञी ।
१४. आहारक मार्गणा के दो भेद - आहारक, अनाहारक ।

गुणस्थानों में कर्म सम्बन्धी चर्चा

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म का बन्ध पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है ।

वेदनीय कर्म का बन्ध तेरहवें और मोहनीय कर्मका बन्ध नौवें गुणस्थान तक होता है । आयुर्कर्म का बन्ध पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवे और छठे गुणस्थान में छठे से प्रारम्भ होने पर सातवें गुणस्थान में भी होता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का उदय पहले ये बारहवें गुणस्थान तक होता है ।

मोहनीय कर्म काय उदय दसवें गुणस्थान तक तथा वेदनीय, आयु नाम और गोत्र का उदय पहले से चौदहवें गुणस्थान तक होता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का उदय निष्पन्न भाव बारहवें गुणस्थान तक होता है ।

मोह कर्म का उदय निष्पन्न भाव पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है । वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म का उदय निष्पन्न भाव सब गुणस्थानों में होता है ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की सत्ता बारहवें गुणस्थान तक होती है । मोहनीय कर्म की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक है ।

वेदनीय, आयु, नाम और कर्म की सत्ता सभी गुणस्थानों के उपशम निष्पन्न केवल मोह कर्म का होता है । शेष सात कर्मों का नहीं । उसके दो प्रकार हैं औपशमिक सम्यग्दर्शन और चारित्र । दर्शन मोह का उपशम निष्पन्न भाव चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है । यह उपशम सम्यक्त्व की अवस्था है । समग्र चारित्र मोह का उपशम निष्पन्न भाव केवल ग्यारहवें गुणस्थान में होता है । यह उपशम चारित्र है । क्रोध का उपशम निष्पन्न भाव नौवें और दसवें गुणस्थान में होता है । इसी प्रकार मान और माया का उपशम निष्पन्न भाव भी नौवें और दसवें गुणस्थान में होता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण का क्षय निष्पन्न भाव तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में तथा सिद्धों में होता है ।

वेदनीय कर्म का क्षय निष्पन्न भाव किसी गुणस्थान में नहीं होता । वह सिद्धों में होता है, उससे आत्मिक सुख प्रकट होता है । मोहनीय कर्म के क्षय निष्पन्न भाव के दो प्रकार हैं- दर्शन मोहनीय क्षय निष्पन्न भाव और चारित्र मोहनीय क्षय निष्पन्न भाव । दर्शन मोह कर्म का क्षय निष्पन्न भाव चौथे से चौदहवें तक तथा सिद्धों में होता है । उसकी उपलब्धि है क्षायिक सम्यक्त्व । सम्पूर्ण चारित्रमोह का क्षय निष्पन्न भाव सिद्धों में होता है किन्तु उनके कर्म का बन्ध नहीं होता । इसलिये उनमें क्षायिक चारित्र की अपेक्षा नहीं है ।

क्रोध का क्षय निष्पन्न भाव नौवें और दसवें गुणस्थान में होता है । इसी प्रकार मान और माया का क्षय निष्पन्न भाव भी नौवें दसवें गुण स्थान में होता है । नौवें गुणस्थान के प्रथम समय में क्रोध मान माया लोभ-ये चार होते हैं । फिर क्रमशः एक-एक कम होते हुए तीन और दो तथा अन्तिम समय में केवल लोभ शेष रहता है । लोभ का क्षय निष्पन्न भाव बारहवें गुणस्थान में होता है ।

आयु कर्म का क्षय निष्पन्न भाव किसी गुणस्थान में नहीं होता, वह सिद्धों में होता है । नामकर्म का क्षय निष्पन्न भाव भी किसी गुणस्थान में नहीं होता वह सिद्धों में होता है ।

गोत्रकर्म का क्षय निष्पन्न भाव भी किसी गुणस्थान में नहीं होता वह सिद्धों में होता है उससे उनका अनुगुरुलघु गुण प्रकट होता है । अन्तराय कर्म का क्षय निष्पन्न भाव तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्धों में होता है ।

ज्ञानावरण दर्शनावरण का क्षयोपशम निष्पन्न भाव पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है । मोहनीय कर्म का क्षयोपशम निष्पन्न भाव के दो प्रकार हैं-दर्शनमोह का क्षयोपशम निष्पन्न भाव और चारित्रमोह का क्षयोपशम निष्पन्न भाव । दर्शनमोह के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव पहले से सातवें गुणस्थान तक होता है चारित्र मोह के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है ।

गुणस्थानों में आश्रव

प्रथम गुणस्थान में बीस आश्रव होते हैं-मिथ्यात्व आश्रव, अब्रत आश्रव, प्रमाद आश्रव, कषाय आश्रव, योग आश्रव, प्राणतिपात आश्रव, मृषावाद आश्रव, अदत्तादान आश्रव, मैथुन आश्रव, परिग्रह आश्रव, श्रोत्रेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव, चक्षुरिन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव, घ्राणेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव, रसनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव, स्पर्शनेन्द्रिय प्रवृत्ति आश्रव, मनः प्रवृत्ति आश्रव, वचन प्रवृत्ति आश्रव, काय प्रवृत्ति आश्रव, भाण्डोपकरण रखने में आश्रव, शुचिकुशाग्रगात्र दोष सेवन करना आश्रव ।

दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व आश्रव नहीं होता, इसलिये उसमें उन्नीस आश्रव होते हैं ।

तीसरे गुणस्थान में बीस आश्रव होते हैं ।

चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व नहीं होता चार सम्यक्त्व होते हैं । अतः उसमें उन्नीस आश्रव पाये जाते हैं ।

पाँचवें गुणस्थान में भी उन्नीस आश्रव होते हैं उसमें अंशतः अब्रत होता है ।

छठे गुणस्थान में अटारह आश्रव होते हैं मिथ्यात्व, अब्रत नहीं होते ।

सातवें गुणस्थान में पाँच आश्रव होते हैं- कषाय, योग, मन, वचन, काय । वहाँ अशुभ योग की प्रवृत्ति नहीं होती ।

आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में उपर्युक्त पाँच आश्रव होते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थान में चार आश्रव होते हैं- योग, मन, वचन, काय ये चारों शुभ होते हैं ।

बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में भी ये ही चार आश्रव होते हैं । चौदहवें गुणस्थान में कोई आश्रव नहीं होता । पहले से दसवें गुणस्थान तक अशुभ आश्रव होता है यहाँ साम्प्रदायिकी क्रिया से होने वाले पाप

का बन्ध होता है । पहले से दसवें तक के गुणस्थानों में किसी में मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद होता है तथा किसी में अशुभ योग और कषाय होते हैं- ये सब अशुभ आश्रव हैं । इन गुणस्थानों में शुभ योग से पुण्यबन्ध होता है ।

गुणस्थानों संवर

आश्रव के रोकने को संवर कहते हैं उसके बीस भेद हैं-

सम्यक्त्व संवर, व्रत संवर, अप्रमाद संवर, अकषाय संवर, अयोग संवर, हिंसा विरति संवर, असत्य विरती संवर, अदत्तादान विरति संवर, मैथुन विरती संवर, परिग्रह विरती संवर, श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह संवर, चक्षुइन्द्रिय निग्रह संवर, घ्राणेन्द्रिय निग्रह संवर, रसनेन्द्रिय निग्रह संवर, स्पर्शन इन्द्रिय निग्रह संवर, मनोनिग्रह संवर, मनोनिग्रह संवर, वचन निग्रह संवर, कायनिग्रह संवर, भाण्डोपकरण रखने में अयत्न न करना संवर, दोष सेवन न करना संवर ।

प्रथम चार गुणस्थानों में ये नहीं होते । दूसरे और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्त होता है । फिर भी मिथ्यात्व का त्याग किये बिना उसे सम्यक्त्व संवर नहीं कहा जाता है । पांचवे गुणस्थान में सम्यक्त्व संवर प्राप्त होता है । किन्तु वहाँ व्रत संवर नहीं होता वह सर्वविरति होने पर ही होता है । पांचवे में सर्व विरति नहीं होती । देश चारित्र की अपेक्षा से पांचवे गुणस्थान में व्रत संवर और चारित्र कहा जा सकता है ।

छठे गुणस्थान में सम्यक्त्व संवर और व्रत संवर होते हैं । सातवें गुणस्थान में संवर के पन्द्रह भेद होते हैं । उसमें अकषाय, अयोग, मन, वचन, काय-ये पाँच संवर नहीं होते । आठवें, नौवे और दसवें गुणस्थान में भी सातवें गुणस्थान की तरह संवर के पन्द्रह भेद प्राप्त होते हैं । ग्यारहवें गुणस्थान में संवर के सोलह प्रकार होते हैं-अयोग, मन, वचन, काय-ये चार संवर वहाँ नहीं होते ।

बारहवे और तेरहवें गुणस्थान में भी संवर के सोलह प्रकार होते हैं । चौदहवें गुणस्थान में संवर के बीसों प्रकार होते हैं ।

जीवसमास के भेद

१) पृथ्वीकाय, २) जलकाय, ३) अग्निकाय, ४) वायुकाय, ५) नित्यनिगोद, ६) इतरनिगोद- ये छह सूक्ष्म और बादर के भेद से दो प्रकार के होते हैं । अतः बारह भेद हुए और वनस्पति सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित होती है अतः चौदह भेद हुए । ये पर्याप्तक, निर्वृत्य पर्याप्तक और लब्ध पर्याप्तक के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । अतः स्थावरकाय के बयालीस जीव समास होते हैं । तथा दो इन्द्री, तेइन्द्री और चौइन्द्रिय जीव भी तीन-तीन प्रकार के होने से विकलत्रय के नौ जीवसमास होते हैं । पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सैनी असैनी के भेद से दो प्रकार के हैं । तथा ये जलचर, थलचर और नभचर के भेद से तीन प्रकार के होते हैं । इनमें जो गर्भज होते हैं वे पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के होते हैं और जो सम्मूर्छन होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं । तथा भोगभूमि के तिर्यञ्च थलचर और नभचर ही होते हैं और वे संज्ञी तथा पर्याप्तक और निर्वृत्य पर्याप्तक होते हैं । अतः कर्मभूमिया पञ्चेन्द्रिय तिर्यचों के $६ \times ३ = १८$ और $६ \times २ = १२$ इस तरह तीस भेद होते हैं, और भोगभूमिया के चार भेद होते हैं । इस तरह चौतीस भेद होते हैं । पञ्चेन्द्रियों में मनुष्य, आर्य और मच्छ, तथा भोगभूमिया और कुभोगभूमिया होते हैं । इनमें से आर्य, मनुष्य पर्याप्तक, निर्वृत्य पर्याप्तक और लब्ध पर्याप्तक होते हैं और म्लेच्छ तथा भोगभूमिया और कुभोगभूमिया पर्याप्तक निर्वृत्य पर्याप्तक ही होते हैं, अतः मनुष्यों के नौ भेद हैं । देव और नारकी भी पर्याप्तक और निर्वृत्य पर्याप्तक ही होते हैं अतः सब $९ \times ४ = ३६$ भेद हुए । इस तरह स्थावरों के ४२, विकलत्रय के ९, पञ्चेन्द्रिय तिर्यचों के ३४ और मनुष्यों के नारकियोंके १३-सब $४२ + ९ + ३४ + १३ = ९८$ जीवसमास होते हैं ।

जीवों के भाव

जीव के औपशमिक आदि पाँच भाव होते हैं । इनके भी ५३ उत्तरभेद अर्थात्- जीवों के भाव ५३ इस प्रकार होते हैं-

१. औपशमिक भाव २- औपशमिक सम्यक्त्व और चारित्र ।
२. क्षायिक भाव ९ - क्षायिक दर्शन, क्षायिक ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र ।
३. क्षायोपशमिक भाव १८- मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य-ये पाँच क्षायोपशमलब्धियाँ । क्षायोपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमक चारित्र ।

४. औदायिक भाव २१- चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्या-दर्शन, अज्ञान, असंयम, असिध्दत्व, ६ लेश्या-कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ।

५. परिणामिक भाव ३- जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व ।

औदायिक भावकर्म के उदय से होने से औदायिक कहलाते हैं । औपशमिक भावकर्म के उपशम से होने से औपशमिक कहलाते हैं । क्षायिक भाव कर्मों के क्षय से होने से क्षायिक कहलाते हैं । क्षायोपशमिक भाव घाति कर्मों के क्षयोपशम से होने से क्षायोपशमिक कहलाते हैं । इसमें न पूर्ण उपशम होता है न पूर्ण क्षय । किन्तु उपशम और क्षय साथ साथ होते हैं । इस अवस्था में कर्म के तीव्र विपाकोदय को उपशम होता है । प्रदेशोदय और मन्द कषायोदय के द्वारा कर्मों का क्षय होता रहता है । इसमें उपशम और क्षय दोनों होने से इसका नाम क्षयोपशम है । उदयनिष्पन्न भाव आठों कर्मों का, उपशम निष्पन्न भाव एक मोहनीय का, क्षय निष्पन्न भाव आठों कर्मों का और क्षयोपशम निष्पन्न भाव चार घातिया कर्मों का होता है ।

गुणस्थानों में भाव

प्रथम गुणस्थान में तीन भाव होते हैं- औदायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक । दूसरे और तीसरे गुणस्थान में ये ही तीन भाव होते हैं ।

चौथे गुणस्थान में सचुच्चय रूप से पाँच भाव होते हैं । पाँचवे से ग्यारहवें तक यही नियम लागू होता है । चतुर्थ गुणस्थान में एक जीव के जघन्यतः तीन भाव होते हैं । औदायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक तथा उत्कृष्ट से चार भाव होते हैं । यदि उसमें औपशमिक हो तो औपशमिक भाव जुड़ जाता है । यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हो तो क्षायिक भाव जुड़ जाता है । इसी प्रकार पाँचवे, छठे और सातवें गुणस्थान में जघन्य और उत्कृष्ट रूप से भाव जान लेना चाहिए । आठवें गुणस्थान से तो उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी का आरोहण शुरू होता है । औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति जब श्रेणी पर आरोहण करता है । उस समय वह चारित्र मोहनीय कर्म को क्रमशः उपशान्त और क्षीण करता है । दर्शन मोहनीय कर्म के उदय का उपशम या क्षय वह पहले ही कर चुका होता है । औपशमिक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं कर सकता ।

बारहवें गुणस्थान में चार भाव होते हैं । वहाँ औपशमिक भाव नहीं होता । बारहवें गुणस्थान में जानेवाला व्यक्ति उसके प्रथम समय में मोहनीय कर्म को क्षीण करता है । वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान में जाता है । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में तीन भाव होते हैं - औदयिक क्षायिक और पारिणामिक । सिध्दों में दो भाव होते हैं- क्षायिक और पारिणामिक । ग्यारहवें गुणस्थान में केवल उपशम श्रेणी वाला व्यक्ति ही जाता है, क्षपक श्रेणीवाला नहीं जाता ।

जीवों की उत्पत्ति के प्रकार

जीवों के जन्म के तीन प्रकार हैं- सम्पूर्ण, गर्भ और उपपाद । समस्त लोक में सब जगह नाकर्म वर्गणा को ग्रहण करके शरीर का उत्पन्न होना सम्मर्छन जन्म है । माता के रज और पिता के वीर्य के संयोग से गर्भ में देह का उत्पन्न होना गर्भ जन्म है । देवों और नारकियों के उपपाद स्थान में पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करके जन्म होना उपवाद जन्म है ।

ज्ञान के भेदों की चर्चा

सम्यग्ज्ञान पाँच है- मतिज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान । इनमें मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं । अवधि और मनःपर्याय देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है ।

१. इन्द्रिय और मन से होनेवाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं । इसके भेद इस प्रकार हैं- जाने हुए को कालान्तर में याद करना स्मृति है । एक बार देखे हुए को पुनः देखकर यह ज्ञान होना कि यह वही है- इसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । सर्वदेश और सर्वकाल में साध्य साधन का विचार चिन्ता है । साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं । ये पाँचो ज्ञान मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं । अतः मतिज्ञान ही हैं । ये इन्द्रिय और मन से होते हैं ।

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो सामान्य सत्ता मात्र का ग्रहण होता है उसे दर्शन कहते हैं । पीछे यह सफेद है - ऐसा ग्रहण होना अवग्रह है । अवग्रह से ग्रहण किये गये सफेद रूप के विषय में जो विशेष जानने की इच्छा होती है कि यह ध्वजा है या बगुलों की पंक्ति है ? यह बगुलों की पंक्ति होनी चाहिए- इस प्रकार के ज्ञान को ईहा कहते हैं । और उसके निश्चय हो जाने को अवाय कहते हैं । और उसे न भूलना धारण है ।

ये ज्ञान बारह प्रकार के पदार्थों के होते हैं- इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो पदार्थ का ज्ञान होता है वह अवग्रह है । वह अवग्रह एक वस्तु का, बहुत वस्तुओं का, एक प्रकार की वस्तु का, बहुत प्रकार की वस्तुओं का, शीघ्र का, चिरकाल का, समस्त निकली हुई का, एकदेश निकली हुई वस्तु का, बिना कही का, कही है, ध्रुवका, अध्रुव का-इस तरह बारह-बारह प्रकार का होता है ।

इसी तरह बारह प्रकार ईहा, बारह प्रकार अवाय और बारह प्रकार का धारणा ज्ञान होता है । इस तरह से एक-एक इन्द्रिय के अडतालीस-अडतालीस भेद होते हैं । अतः पाँच इन्द्रिय और छठें मन से होने वाले अर्थावग्रह के २८८ भेद होते हैं । अप्रकट शब्दादि का जो व्यंजनावग्रह होता है उसके ईहा, अवाय, धारणा ज्ञान नहीं होते । तथा वह नेत्र और मन के सिवाय चार इन्द्रियों से ही होता है ।

२. श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है । उसके दो भेद हैं- अंगबाह्य और अंग प्रविष्ट । अंगबाह्य के अनेक भेद हैं अंग प्रविष्ट के बारह भेद है ।

३. देवों और नारकियों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । उनके भाव ही अवधिज्ञान का कारण हैं जो दे और नारक पर्याय धारण करता है उसके अवधि ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो जात है । मिथ्यादृष्टि के कुअवधिज्ञान और सम्यग्दृष्टि के सुअवधिज्ञान होता है । अवधिज्ञान के छह भेद हैं- अनुगामी, अननुगामी, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित ।

४. मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं- ऋजुमति और विपुलमति । ऋजुमति से विपुलमति द्रव्य क्षेत्र काल भाव से विशुद्ध होता है । अवधिज्ञान से मनःपर्यायज्ञान विशुद्ध होता है । मनःपर्यय सात ऋद्धियों में से किसी ऋद्धि के धारी वर्धमान चारित्र वाले मुनियों के ही होता है । अवधिज्ञान जिस सूक्ष्म पदार्थ को जानता है उसके भी अनन्तवें भाग सूक्ष्म मूर्त वस्तु को मनःपर्यय जानता है । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान छहों द्रव्यों की कतिपय पर्यायों को जानते हैं । किन्तु अवधिज्ञान रूपी पुद्गल द्रव्य को ही जानता है, अरूपी को नहीं जानता ।

६. केवलज्ञान सब द्रव्यों की सब पर्यायों को जानता है ।

एक जीव के एक साथ अधिक से अधिक केवलज्ञान के बिना चार ज्ञान हो सकते हैं । एक अकोला तो केवलज्ञान ही होता है । दो हों तो मति, श्रुत होते हैं । तीन हों तो मति, श्रुत, अवधि या मनःपर्यय होते हैं ।

कर्मों की प्रकृतियाँ

मूल कर्म आठ हैं- ज्ञानावरण दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ।

१. ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ पाँच हैं-

१. जो मतिज्ञान को आच्छादित करता है वह मतिज्ञानावरण है ।
२. जो श्रुतज्ञान को आच्छादित करता है वह श्रुतज्ञानावरण है ।
३. जो अवधिज्ञान को ढांकता है वह अवधिज्ञानावरण है ।
४. जो मनःपर्ययज्ञान को ढांकता है वह मनःपर्यय ज्ञानावरण है ।
५. जो केवलज्ञान को ढांकता है वह केवलज्ञानावरण है ।

इन पाँच प्रकृतियों के उदय से ज्ञान की हीनता और क्षयोपशम से ज्ञान की अधिकता होती है ।

२. दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं-

१. चक्षुदर्शनावरण के उदय से चक्षुदर्शन नहीं होता ।
२. अचक्षु दर्शनावरण के उदय से अचक्षुदर्शन नहीं होता ।
३. अवधिदर्शनावरण के उदय से अवधि दर्शन नहीं होता ।
४. केवल दर्शनावरण के उदय से केवल दर्शन नहीं होता । पाँच निद्राएँ भी दर्शन को रोकती हैं ।
५. थोडा सोना निद्रा है ।
६. अधिक सोना निद्रानिद्रा है ।
७. सोते हुए शरीर का चलायमान होना प्रचला है ..
८. उसकी अधिकता प्रचला-प्रचला है ।
९. सोते हुए भी पराक्रम रूप कार्य करना स्त्यानगृद्धि है ।

इन नौ प्रकार के दर्शनावरणी कर्मों के उदय से पदार्थों का दर्शन नहीं हो सकता । जितना क्षयोपशम होता उतना दर्शन होता है ।

३. वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं- सातावेदनीय कर्म के उदय से जीव को नाना प्रकार का सुख होता है ।

४. मोहनीय कर्म की अट्ठाइस प्रकृतियाँ हैं- उनमें से तीन दर्शन मोहनीय कर्म की हैं- मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति । चारित्र मोहनीय की २५ प्रकृतियाँ हैं- अनन्तानुबन्धी

क्रोध मान माया लोभ । इसके उदय से सम्यक्त्व नहीं होता । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ । इनके उदय से देशचारित्र नहीं होता । प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ । इनके उदय से सकलचरित्र मुनिव्रत नहीं होता । संज्वलन क्रोध मान माया लोभ । इनके उदय से यथाख्यात चारित्र नहीं होता ।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद-ये नौ नोकषाय हैं । ये सब मिलकर मोहनीय की २८ प्रकृतियाँ हैं ।

५. आयुर्कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं- नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु । जिस गति की आयु का बन्ध होता है उस गति में जन्म लेकर आयु पूर्ण होने पर मरण होता है ।

६. नामकर्म की तेरनबे प्रकृतियाँ हैं- १. गति नामकर्म की चार प्रकृतियाँ हैं- नरक गति नामकर्म, तिर्यञ्च गति नामकर्म, मनुष्यगति नामकर्म और देवगति नामकर्म । २. जाति नामकर्म के पाँच प्रकार हैं- एकेन्द्रिय जाति नामकर्म, दो इन्द्रिय जातिनामकर्म, तेइन्द्रिय जाति नामकर्म, चौइन्द्रिय जाति नामकर्म, पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म । ३. शरीर नाम कर्म के पाँच प्रकार हैं- औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रियिक शरीरनामकर्म, आहारक शरीर नामकर्म, तैजस शरीर नामकर्म और कार्मण शरीर नामकर्म ।

४. अंगोपांगशरीर नामकर्म के तीन प्रकार हैं- औदारिक अंगोपांग वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग- ये तीन शरीर अंग उपांग सहित होते हैं ।

५. निर्माण नामकर्म के दो प्रकार हैं- स्थान निर्माण और प्रमाण निर्माण । जैसे दो नेत्र, दो हाथ, पाँच अँगुलि का होना प्रमाण निर्माण है और इनका अपने-अपने स्थान में होना स्थान निर्माण है ।

६. बन्धन नामकर्म के पाँच प्रकार हैं - औदारिक शरीर बन्धन, वैक्रियिक शरीर बन्ध, आहारक शरीर बन्धन, तैजस शरीर बन्धन और कार्मण शरीर बन्धन । जैसे दीवार बनाते समय चूना या मिट्टी से ईंटों को जोड़ा जाता है वैसे ही शरीर का बन्धन होता है ।

७. संघात नामकर्म के भी पाँच प्रकार हैं-औदारिक संघात, वैक्रियिक संघात, आहारक संघात, तैजस संघात और कार्मण संघात । जैसे दीवार के ऊपर अस्तरकारी की जाती है, वैसे ही शरीर का संघात होता है ।

८. संस्थान नामकर्म के छह प्रकार हैं-

१. समचतुरस्रसंस्थान- जहाँ जैसा चाहिए वहाँ उसी रूप शोभायमान होना समचतुरस्र संस्थान है ।
२. न्यग्रोध परिमण्डन संस्थान-बड के पेड की तरह शरीर के ऊपर का भाग भारी और नीचे का पतला होना ।
३. बाल्मीकि संस्थान- साँप की बामी की तरह शरीर के ऊपर का भाग दुबला पतला और नीचे का भारी होना ।
४. कुब्जक संस्थान- शरीर का कुबडा होना ।
५. वामन संस्थान- शरीर का बौना होना ।
६. हुण्डक संस्थान- विचित्र आकार होना ।
९. संहनन नामकर्म के छह प्रकार हैं- व्रज वृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अधैनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ।

संहननों का महत्व और विशेषता

छठें संहनन वाला जीव मरकर तीसे नरक तक ही जन्म लेता है । आगे नहीं । पाँचवे संहनन वाला जीव चौथे, पाँचवे नरक तक ही जन्म लेता है । नाराच संहनन वाला जीव तथा तीसरे, दूसरे संहनन वाला जीव छठे नरक तक ही जन्म लेता है । और प्रथम वज्रवृषभ-नाराच संहनन वाला जीव ही मरकर सातवें नरक में जन्म लेता है । छठें संहनन वाला यदि मरकर स्वर्ग जात है तो आठवें स्वर्ग तक ही जाता है । आगे नहीं जाता । पाँचवे संहनन वाला जीव बारहवें स्वर्ग तक ही जन्म लेता है । चौथे संहनन वाला जीव सोलहवें स्वर्ग तक जन्म लेता है । तीन संहनन वाले जीव नौ ग्रैवेयक तक जन्म लेते हैं । दो संहनन वाले जीव नौ अनुदिश तक जन्म लेते हैं तथा प्रथम संहनन वाले जीव पाँच अनुत्तर तक जन्म लेते हैं । यदि वह चरम शरीरी होते हैं तो मोक्ष जाते हैं ।

चतुर्थ काल में छहों संहनन होते हैं । पाँचवे काल में अन्तिम तीन संहनन होते हैं । छठें काल में एक छठें संहनन ही होता है । दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय के एक मात्र छठा संहनन ही होता है । एकेन्द्रिय जीव के संहनन नहीं होता ।

छठें संहनन वाला प्रथम गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक जा सकता है । वज्र वृषभनाराच, वज्रनाराच और अर्धनाराच वाला प्रथम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक जा सकता है । और

एक वज्रवृषभ-नाराच संहनन वाला जीव क्षपक श्रेणी पर चढकर तेरहवें में जाता है । ऐसा जिनागम में कहा है ।

१०. स्पर्शनामकर्म के आठ भेद हैं- कठोर, कोमल, हल्का, भारी, स्निग्ध, रुक्ष, शीत, ऊष्ण ।
 ११. रस नामकर्म के पाँच प्रकार हैं- कटुक, तिक्त, कसैला, खट्टा और मीठा ।
 १२. गन्ध नामकर्म के दो प्रकार हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध ।
 १३. वर्ण नामकर्म के पाँच प्रकार हैं- श्वेत, हरित, पीत, कृष्ण और रक्त ।
 १४. आनुपूर्वी नामकर्म के चार प्रकार हैं- नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यञ्च गत्यानुपूर्वी, मनुष्या गत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी- ये सब पिण्ड प्रकृतियाँ हैं ।
 १५. अपिण्ड प्रकृतियाँ-सुन्दर गमन करना प्रशस्त विहायोगतिनाम, असुन्दर गमन करना अप्रशस्त विहायोगतिनाम, श्वास, निश्वास, अगुरुलघु उपघात, परघात, आतप, उद्योत, शुभनाम, अशुभनाम, सुस्वर, दुस्वर, सुभग, दुर्भग, पर्याप्त, अपर्याप्त, सूक्ष्म, बादर, यशःक्रीर्ती अयशःक्रीर्ती, स्थिर, अस्थिर, त्रस, स्थावर, प्रत्येक साधारण, आदेय, अनादेय, तीर्थकर नामकर्म इन सबको जोड़ने से नामकर्म की तेरानवे प्रकृतियाँ होती हैं ।
 ७. गोत्र कर्म-गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं- नीच गोत्र और उच्च गोत्र कर्म ।
 ८. अन्तराय कर्म - अन्तराय कर्म की पाँच प्रकृतियाँ है -
 १. जिसके उदय से दान करने के परिणाम न हो वह दानान्तराय प्रकृति है ।
 २. जिसके उदय से उद्यम करने पर भी लाभ न हो वह लाभान्तराय प्रकृति है ।
 ३. भोगने योग्य वस्तु प्राप्त होने पर भी जिसके उदय से भोग न सके वह भोगान्तराय कर्म प्रकृति है ।
 ४. स्त्री, वस्त्र, आभूषण आदि उपभोग के प्राप्त होने पर भी जिसके उदय से उपभोग न कर सके या उपभोग योग्य वस्तु प्राप्त न हो वह उपभोगान्तराय कर्म प्रकृति है ।
 ५. पुष्टिकर पदार्थों का लाभ जिसके उदय से न हो सके या लाभ होने पर भी शरीर में बल वीर्य न बढ सके वह वीर्यान्तराय कर्म है ।
- इस प्रकार आठ कर्मों की एक सौ अडतालीस प्रकृतियाँ होती हैं । सो जिस जीव के जिस प्रकृति का उदय होता है वह उसको भोगता है ।

घातिया कर्मों की प्रकृतियाँ

जो आत्मा के गुण को घातता है उसे घातिया कर्म कहते हैं । वे चार हैं-१, ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ । २. दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ । ३. मोहनीय की अठाईस प्रकृतियाँ और ४. अन्तराय की पाँच- इस तरह चार घातिया कर्मों की सैतालीस प्रकृतियाँ हैं ।

इन घातिया कर्मों के भी दो भेद हैं- सर्वघाती और देशघाती ।

देशघाति प्रकृतियाँ छब्बीस हैं इ संज्वलन, क्रोध, मान, माया लोभ । नौ हास्यादि नोकषाय, इ ज्ञानावरण में से चार-मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण और मनःपर्याय ज्ञानावरण । दर्शनावरण की तीन-चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण और अवधि दर्शनावरण तथा अन्तराय की पाँच । ये सब देशघाति प्रकृतियाँ २६ हैं ।

सर्वघाति प्रकृतियाँ इक्कीस हैं-

१. केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण और पाँच निद्रा, बारह कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक मिथ्यात्व-ये सर्वघाती हैं ।

जो आत्मा के गुण को सर्वथा घातता है वह सर्वघाती है । और जो एकदेश घातता है वह देशघाती है ।

फल की अपेक्ष कर्म प्रकृतियों के भेद-

फल की अपेक्षा कर्म प्रकृतियों के चार भेद हैं-

१. पुद्गल विपाकी, २, भवविपाकी, ३ क्षेत्र विपाकी, ४- जीव विपाकी ।

१. जो पुद्गल रूप में फल देती हैं वे पुद्गल विपाकी नामकर्म की बासठ प्रकृतियाँ हैं ।

२. भवविपाकी चारों आयु हैं । ये परभव में ले जाकर अपना फल देती हैं ।

३. चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी हैं । जब जीव एक गति को छोड़ दूसरी गति में जाता है तथा एक या दो या तीन समय तक मार्ग में रहता है । यह गत्यानुपूर्वी है ।

४. जीव विपाकी अठहत्तर प्रकृतियाँ हैं- ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय दो, मोहनीय अष्टाईस, गोत्र की दो, अन्तराय की पाँच और नामकर्म की सत्ताईस प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं । जीव में अपना फल देती हैं ।

१४८ प्रकृतियों का गुणस्थानों में क्षय

आगे इन एक सौ अडतालीस प्रकृतियों का गुणस्थानों में क्षय दिखाते हैं-

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति- इन सात प्रकृतियों को मोक्षमार्गी जीव चौथे अविरत गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक खपाता है । अप्रमत्त के दो भेद हैं- स्व-स्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त । जो श्रेणि चढ़ने के सन्मुख होता है उसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं ।

मोक्षमार्गी जीव के नरक, तिर्यञ्च औ देवायु की सत्ता नहीं होती । एक भुज्यमान मनुष्यायु की ही सत्ता होती है । नौवे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियों का क्षय होता है । वे हैं-तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, विकलत्रय, स्त्यानगृद्धि आदि, तीन उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण सूक्ष्म, स्थावर, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया लोभ, तीन वेद, हास्य आदि छह, संज्वलन कषाय । दसवें सूक्ष्मसाम्यराय नामक गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का नाश होता है । बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान में निद्रा, प्रचला, ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच, दर्शनावरण की शेष प्रकृतियों का विनाश होता है । इस तरह त्रेसठ प्रकृतियों का क्षय होने पर ८५ शेष रहती हैं । तो अयोगकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में ७२ और अन्तिम समय में १३ का क्षय होता है । इस प्रकार जीव कर्म की सत्ता का नाशकर अविनाशी पद को प्राप्त होता है ।

एक गुणस्थान से अन्य गुणस्थानों में गमन

अब गुणस्थानों से अन्य गुणस्थानों में जाने का कथन करते हैं- मिथ्यात्व गुणस्थान से ऊपर चढ़े तो चौथे, पाँचवे और सातवें गुण स्थान में जाता है । दूसरे सासादन गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में ही आता है । ऊपर चढ़ने पर पाँचवे में या सातवे में जाता है । पाँचवे गुणस्थान से ऊपर चढ़े तो सातवें में जाता है । और नीचे गिरे तो चौथे में, तीसरे में, दूसरे में अथवा पहले में आता है । तीसरे गुणस्थान से ऊपर चढ़े तो चौथे में जाता है और नीचे गिरे तो मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है । छठें गुणस्थान से ऊपर चढ़े तो सातवें में जाता है और नीचे गिरे तो पाँचवे, चौथे, तीसरे, दूसरे अथवा पहले में जाता है । आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ ये चार उपशम श्रेणी के गुणस्थान हैं । ये यदि नीचे जाते हैं तो क्रम से एक-एक गुणस्थान गिरते हैं और यदि ऊपर चढ़ते हैं तो एक-एक गुणस्थान क्रम से ऊपर चढ़ते हैं । यदि मरण होता है तो

चौथे गुणस्थान में मरण करके देवगति में जन्म लेते हैं । किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से ऊपर चढना संभव नहीं है । अतः नीचे गिरने पर दसवें में आता है । यदि मरण काता है तो चौथे में मरण करने देवगति में जाता है । बारहवें गुणस्थान वाला जीव नीचे नहीं गिरता । तेरहवें में जाकर केवलज्ञानी होता है ।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति-

यहाँ सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कथन करते हैं-मिथ्यात्व भाव से जीव अनादिकाल से संसार मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दुःख भोगता है । जब उसे कारणलब्धि की प्राप्ति होती है तब सम्यग्दर्शन होता है ।

लब्धि के भेद-लब्धि के भेद पाँच हैं-क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करणलब्धि ।

जिस काल में आठों कर्मों में ज्ञानावरण आदि समस्त अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्त गुना घटता हुआ क्रम से उदय में आता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है । क्षयोपशम लब्धि के प्रभाव से जीव के सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारण शुभ परिणामों की प्राप्ति विशुद्धि लब्धि है । छह द्रव्य, नौ पदार्थों के स्वरूप के उपदेश को धारण करने की शक्ति देशनालब्धि है । नरकादिक में उपदेशदाता नहीं है । वहाँ पूर्वजन्म में धारण किया तत्त्वार्थ का संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन होता है । इन तीन लब्धियों से संयुक्त जो जीव प्रतिसमय विशुद्धता की वृद्धि से आयुकर्म बिना सात कर्मप्रकृतियों की अन्तः कोडा कोडी सागर मात्र स्थिति शेष रहे । और घातिया कर्मों का अनुभाग दारु और लता रूप अवशेष रहे । ऐसा होते ही जो योग्यता की प्राप्ति से प्रायोग्यलब्धि है । सो भव्य और अभव्य के भी होती है । किन्तु पाँचवी करणलब्धि भव्य के ही होती है .. इसके होते परिणाम तत्वश्रद्धान पूर्वक होते है ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति-इन सात के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है । इनके क्षयोपशम से क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है । इनके क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है ।

पर-द्रव्यों से भिन्न अपने स्वरूप में रुचि होना निश्चय-सम्यक्त्व है । अपने स्वरूप का ज्ञान निश्चय-सम्यग्ज्ञान है और अपने स्वरूप में लीनता निश्चय-चारित्र है ।

सात तत्वों का और अर्हतदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामयी धर्म का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है ।

चरणानुयोग

अब चरणानुयोग का कथन करते हैं- आचरण नाम क्रिया पालने का है । इसके दो भेद हैं- श्रावक का आचरण और यति (मुनि या श्रमण) का आचरण । ऐसा करना, जिससे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो । मुनिव्रत धारे (ग्रहण किये) बिना मोक्ष नहीं होता ।

१. श्रावकाचार

श्रावकाचार के अन्तर्गत मुख्यतः श्रावक जिन ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करता है वे इस प्रकार हैं -

१. दर्शन प्रतिमा- पाँच उदम्बर फलों का और मद्य, मांस, मधु का त्याग आठ मूलगुण हैं । तथा जुआ, मांस, मदिरा, वेश्या, चोरी, शिकार, परस्त्री-इन सात व्यसनों का त्याग होना चाहिए ।

२. व्रत प्रतिमा- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन ।

पाँच अणुव्रत- त्रस काय के जीवों की सब प्रकार से रक्षा करना और स्थावर काय की यथाशक्ति रक्षा करना अहिंसागुणव्रत है । न्यायपूर्वक सत्य वचन बोलना सत्याणुव्रत हैं । चोरी का त्याग अचौर्याणुव्रत है । परस्त्री का त्याग ब्रह्मचर्याणुव्रत है । परिग्रहा का परिमाण करना परिग्रहत्याग अणुव्रत है ।

दसों दिशाओं में जाने आने का परिमाण करना दिग्विरतिव्रत है । देश में जाने आने का नियम देशव्रत है ।

अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं - बिना प्रयोजन पाप का उपदेश देना पापोपदेश है । बिना प्रयोजन अति रौद्रभाव करना अपध्यान है । हिंसा के साधन देना हिंसादान है । खोटे शास्त्रों का सुनना दुश्रुति है । प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति प्रमादचर्या है । इनका त्याग करना अनर्थदण्ड विरति व्रत है ।

चार शिक्षाव्रत

सामायिक करना, प्रोषधोपवास करना, भोग-उपभोग का प्रमाण करना, सत्पात्रको दान देना-ये चार शिक्षाव्रत हैं ।

३. सामायिक प्रतिमा- आर्त, रौद्र, ध्यान को त्याग कर समता भावना भाना सामायिक प्रतिमा है ।
४. प्रोषधोपवास प्रतिमा- एक मास में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी को उपवास करना ।
५. सचित्त त्याग प्रतिमा- सचित्र भक्षण का त्यागना सचित्त त्याग प्रतिमा है ।
६. दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा- दिन में मैथुन का त्याग ।
७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा- स्त्री मात्र के सेवन का त्याग ।
८. आरम्भ त्याग- पापारम्भ का त्याग ।
९. परिग्रह त्याग - परिग्रह का त्याग ।
१०. अनुमति त्याग प्रतिमा- इसमें विवाह आदि कार्यों की अनुमति का त्याग होता है ।
११. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा- अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन का त्याग करना ।

२. श्रमणाचार

साधु के २८ मूलगुण

यति, मुनि, श्रमण तथा साधु ये पर्यायवाची शब्द हैं । ये अट्ठाईस मूलगुण धारण करके बनते हैं । पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियों को जीतना, छह आवश्यक, स्नान का त्याग, भूमि पर सोना, केशलोच करना, वस्त्र त्याग, एक बार भोजन करना, दन्तधावन का त्याग, खड़े होकर भोजन करना-ये साधु से २८ मूलगुण हैं ।

पाँच महाव्रत- १. त्रस और स्थावर जीवों की सर्वथा रक्षा करना अहिंसा महाव्रत है । २. सर्वथा असत्य बोलने का त्याग सत्य महाव्रत है । ३. सब प्रकार की चोरी का त्याग अचौर्य महाव्रत है । ४. स्त्री मात्र तथा सभी प्रकार के मैथुन के सेवन का सर्वथा त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत है । ५. बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा त्याग परिग्रहत्याग महाव्रत है ।

पाँच समिति- १. चार हाथ जमीन देखकर चलना ईर्यासमिती है । २. हित मित वचन बोलना भाषा समिति है । ३. आहार सम्बन्धी उद्गम, उत्पादन आदि । छियालीस दोष और बत्तीस अन्तराय टालकर शुद्ध आहार पर-घर करना एषणा समिति है । इस समिति में मुनि आहार सम्बन्धी जिन छयालीस दोष-रहित शुद्धआहार ग्रहण करते हैं, वे इस प्रकार हैं-

आहार सम्बन्धी सोलह उद्गमदोष हैं, जो दात के अधीन हैं । जो दाता मुनि के लिये संकल्प करके भोजन बनावे और वह भोजन मुनि को दे तो दोष लगता है । यदि मुनिराज जानें तो भोजन का त्याग करें

। इसका नाम उद्गम दोष है । जो दाता ने अपने लिये रसोई बनाई हो और मुनिराज को आया जान किसी थोड़ी वस्तु में और मिलावे तो दोष है, इसका नाम अधिधी दोष है । प्रासुक रहित भोजन देना पूत दोष है । सचित्त-अचित्त मिला भोजन देना मिश्र दोष है । जिस पात्र में असंयमी जीमा हो उस पात्र से ढंका भोजन देना भार दोष है । दूसरे के लिए बनाया भोजन मुनि को देना बलि दोष है । दुर्भिक्ष में सस्ता भोजन और सुकाल मे इष्ट भोजन देना प्रावर्तिक दोष है ।

यंत्र मंत्र द्वारा रसोई का प्रबन्ध करके मुनि को देना क्रीत दोष है । अपनी शक्ति, आहार देने की नहीं होने पर परघर से लाकर भोजन देना रिण दोष है । अपने घर में मोटा अनाज जानकर परघर से चावल आदि बदलकर मुनि को भोजन देना परावर्तक दोष है । बिना पंक्ति के घरों से आया भोजन मुनि को देना अभिघट दोष है । मुनिराज को आहार देते समय भोजना का मुख ढका हो उसको खोलकर देना उद्गम दोष है । ऊपर के खण्ड में धरी वस्तु को आहार के समय लाकर देना मालारोहण दोष है । आहार देने के तो भावा न हों परन्तु राजा, पंचों आदि के भय से आहारदान देना आच्छेद्य दोष है । घरका धनी उस समय घरमें न हो और परघर का आकर मुनि को दान देना अनीशार्थ दोष है ।

ये १६ उद्गम दोष है । इनक बचाव दाता को करना चाहिए । जो साधु दोष सहित भोजन जाने तो अन्तराय जान भोजन त्याग कर वापिस चला जाये । यदि आहार लेने पर जाने तो गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त ले शुद्ध हो और जो जानै नहीं तो दाना को दोष लगता हैं ।

३. सोलह उत्पादन दोष- उत्पादन दोषज्ञ मुनिराज के अधीन है, इनकी रक्षा उन्हें करनी चाहिए । ये दोष इस प्रकार हैं- जो मुनिराज दाता के घर जाकर उनके बालकों को खिलाकर भोजन करे तो धात्री दोष हैं । जो साधु आहार के लिये दाता के घर जाकर दूर देश की बातें करके भोजन करे दो दूत दोष हैं । निमित्त (ज्योतिष) आदि द्वारा अपना अतिशय दिखाकर भोजन करना निमित्त दोष है । जो साधु दाता के घर जाकर आजीविका की बात करके भोजन करे तो आजीविका नामक दोष है । जो दाता को लुभावने वचन कहकर भोजन करे तो वनीपक दोष है । जो दाता की नाडी देखकर औषध बताकर भोजन करे तो चिकित्सा दोष है । जो मुनिराज क्रोध सहित भोजन करे तो क्रोध दोष है । मान सहित भोजन करे तो मान दोष है । राग सहित भोजन करे तो लोभ दोष है । दाता की प्रशंसा करके भोजन करे तो संस्तुति दोष है । भोजन करने के बाद दाता की प्रशंसा करे पश्चात दोष है । अपना शिष्य जान भोजन करे तो विद्या । दोष है । मंत्र तंत्र बताकर भोजन करे तो मंत्र दोष है । चूरन आदि

बताकर भोजन करे तो चूरन दोष है । यंत्र मंत्र द्वारा दाता को अपने वश में करके भोजन करें तो मूल दोष है । इन सोलह दोषों को बचाकर पात्र को भोजन करना चाहिए ।

एषणा (अशन) सम्बन्धी दस दोष-

भोजन करते समय यह सन्देह हो कि यह भोजन शुद्ध है कि अशुद्ध है ? ऐसा होते भी भोजन करना शंकित दोष है । दाता के हाथ तथा पात्र चिकने देखे और भोजन करे तो म्रिक्षित दोष है । सचित पात्र में धरा भोजन करे तो निक्षिप्त दोष है । जो भोजन संचित पात्र से ढका हो तो पिहित दोष है । जिस जीव से गृहस्थ अवस्था में बहुत स्नेह रहा हो उसे घर स्नेहपूर्वक आहार करना आहार दोष है । सूतक, रोगी, बालक, वृद्ध, नपुसंक, गर्भवती स्त्री, जलती आक को बुझाती हुई देखे और आहार करे दायक दोष है । सचित अचित्त मिलाकर स्वादसहित भोजन करे तो उन्मिश्र दोष है । अधपका भोजन करे तो अप्रतीति दोष है । खिचडी, कढी, दाल, तरकारी, घी, तेल से मिश्रित हो तो उसका नाम लिप्त दोष है । चलित रस भोजन जीमें तो उसका नाम त्यजन दोष है ।

संयोजनादि चार दोष-

ठंडा भोजन उष्ण जलसे मिला देना या ठण्डे जलादि को उष्ण भात आदि से मिला देना संयोजना दोष है । मर्यादा से अधिक भोजन लेना प्रमाण दोष है । षट्स सहित भोजन चाहना अंगार दोष है । नीरस भोजन अरुचिपूर्वक करना धूम दोष है ।

इस तरह इन छियालीस दोषों को टालकर मुनि को भोजन करना चाहिए ।

बत्तीस अन्तराय

आहार सम्बन्धी बत्तीस अन्तराय इस प्रकार हैं-

जो साधु भोजन के समय काक आदि जन्तुओं को देख भोजन त्यागता है उसका नाम काक अन्तराय है । अशुचि पदार्थ विष्टा आदिक पैर से लिप्त हो जाये तो अमेध्य अन्तराय है । यदि स्वयं को वमन हो जाय तो वमन नामक अन्तराय है । यदि कोई उस समय रोक दे तो रोधन अन्तराय है । यदि अपने या दूरसे के शरीर से रुधिर आदि निकलता देख ले तो रुधिर अन्तराय है । अश्रुपात होनेपर अश्रुपात अन्तराय है । घुटनों से नीचे के भाग का यदि हाथ से स्पर्श हो जाय तो जान्वधः परामर्श अन्तराय

है । घुटनोंसे ऊपर के भाग का हाथ से स्पर्श हो जाने पर जानूपरि व्यतिक्रम अन्तराय है । नाभि से नीचे मस्तक करके निकलना पडे तो नाभ्यधो निर्गमन अन्तराय है । जिस वस्तु का त्याग है यदि उसका भक्षण हो जाये तो अन्तराय है । यदि किसी जन्तु का वध हो जाये तो जन्तुवध अन्तराय है । यदि कौवा आदि हाथ से भोजन हरले तो काकपिंड निर्हरण अन्तराय है । यदि आहार करते हुऐ हाथ से गिर जाये तो पिण्डपतन अन्तराय है । यदि आहार करते हुऐ वे पाणिपुट में गिरकर कोई जन्तु मर जाये तो पाणि जन्तुवध अन्तराय है । भोजन करते समय यदि उपसर्ग हो जाये तो उपसर्ग अन्तराय है । भोजन के समय यदि मांस देखे तो मांस दर्शन अन्तराय है । भोजन के समय पैरों के नीचे जीव गमन करता जाने तो पादान्तर जीवगमन अन्तराय है । भोजन करते समय दाता के हाथ से पात्र गिरता जाने तो उसका नाम भोजन पतन अन्तराय है । यदि अपने शरीरी से मल गिर जाय तो उच्चार अन्तराय है । यदि भोजन करते समय मूत्र खिरता जाने तो प्रस्त्रवरण अन्तराय है । यदि मुनि प्रमादवश शूद्र के घर में भोजन के लिए प्रवेश कर जाये तो अभोज्य गृह प्रवेश अन्तराय है । भोजन करते समय किसी को मूर्छित होकर गिरता जाने तो पतन अन्तराय है । भोजन करते समय प्रमाद से या हीन शक्ति से बैठना पड जाये तो उसका नाम उपवेशन अन्तराय है । भोजन करते समय कुत्ता आदि काट जाये तो सदंश अन्तराय है । भोजन के पहले सिध्द भक्ति करके मस्तक भूमि का स्पर्श करे तो भूमिस्पर्श अन्तराय है । भोजन करते समय यदि अपने मुख से कफ निकल जाये तो निष्ठीवन अन्तराय है । भोजन करते समय यदि अपने उदर से कृमि निकले तो उदरकृमि निर्गमन अन्तराय है । यदि बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करे तो अदत्त ग्रहण अन्तराय है । भोजन के लिये घर में जाते मुनिराज को द्वारपाल रोके तो महा अन्तराय है । भोजन को जाते समय कोई मार्ग में पडी वस्तु पाव से ग्रहण करे जो इसका नाम पैर से किच्चिंत ग्रहण है । अथवा कोई पडी वस्तु आप ही पैर से दाबे यह पादान्तर ग्रहण अन्तराय है । या पडी वस्तु को हाथ से ग्रहण करें तो करग्रहण अन्तराय है । ये ३२ अन्तराय है ।

एषमा समिति है ।

४. धर्म साधन के उपकरण पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि को भले प्रकार देख यत्नपूर्वक उठाना, धरना आदाननिक्षेपण समिति है ।
५. निर्जन्तुक स्थान देख मल-मूत्र त्यागना उत्सर्ग समिति है ।

छह आवश्यक- प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, समता, वन्दना, स्तुति स्वाध्याय-ये छह आवश्यक हैं ।

उत्तरगुण- दस धर्म, बाहर तप आदि उत्तरगुण के अन्तर्गत आते हैं ।

उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य-ये दस धर्म है ।

बारह तप हैं- छह बाह्य और छह आभ्यन्तर ।

छह बाह्य तप-उपवास करना अनशन तप है ॥१॥ भूख से कम खाना अवमौदर्य तप है ॥२॥

भिक्षा के लिए नियम लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है ॥३॥ रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप है ॥४॥

एकान्त स्थान में शयन और आसन लगाना विविक्त शय्यासन तप है ॥५॥ नाना प्रकार परीषह सहनी

कायक्लेश तप है । ये छह बाह्य तप हैं ।

छह आभ्यन्तर तप- अपने में दूषण लगा जान गुरु के निकट जाकर निःशल्य भाव से दस दोष रहित अपने दोष निवेदन करके गुरु का दिया दण्ड हर्षपूर्वक धारण करना प्रायश्चित्त तप है । देव गुरु शास्त्र तथा सम्यक् दर्शन आदि का विनय करना विनय तप है । अपने गुरु तथा अन्य मुनियों की, जो रोग आदि से पीडित हों उनकी सेवा करना वैयावृत्य तप है । तत्वश्रद्धान के लिए जिन शासन के ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है । काय से ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग तप है । एकाग्र होकर चिन्ता का निरोध ध्यान तप है- ये छह आभ्यन्तर तप है । इन बारह तपों से कर्मों की निर्जरा होती है । इस प्रकार साधु आचार जानना ।

मुनि के पाँच भेद

पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक-ये पाँच प्रकारके मुनि भावलिङ्गी सम्यग्दृष्टि और सब परिग्रह से रहित होते हैं । इससे पाँचों की निर्ग्रन्थ संज्ञा है । १. इनमें जो उत्तरगुणों की भावना से रहित है, जिनके व्रतों में किसी क्षेत्र में किसी काल में पूर्णता नहीं होती उनकी पुलाक संज्ञा है । पुलाक नाम तुच्छ धान्य का है ।

२. जिनके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा त्याग है, जिनके मूलगुण उत्तरगुण अखंडित हैं किन्तु शरीर और उपकरणों की सुन्दरता में जिनके परिणाम अनुराग रूप हैं । संघ के किन्हीं मुनियों में अनुराग भाव

हो आता है तथा मत की प्रभावना के लिए ऋद्धि, शरीर का संस्कार जब कभी करते हैं । परमार्थ से उनके परिणाम मलिन होते हैं इसमें उन्हें बकुश कहते हैं । बकुश चितकवरे को कहते हैं ।

३. कुशील के दो प्रकार हैं- कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील जिनके मूलगुण उत्तरगुण पूर्ण होते हैं । किन्तु उत्तरगुणों की विराधना करते हैं इससे इनमें प्रतिसेवना कुशील कहते हैं । जिन्होंने अन्य कषायों को वश में किया है और मात्र संज्वलन कषाय के अधीन हैं वे कषाय कुशील हैं ।

४. जिनके समस्त कषाय का अभाव है और अन्तर्मुहूर्त के बाद केवलज्ञान प्रकट होगा वे निर्ग्रन्थ हैं ।

५. जिनके घातिया कर्मों का नाश हुआ ऐसे सयोगकेवलियों की स्नातक संज्ञा है । इस प्रकार इन पाँचों में चारित्र की हानि वृद्धि होने पर भी नैगम, संग्रह नय की अपेक्षा ये पाँचों ही निर्ग्रन्थ हैं ।

नवधा भक्ति

ऐसे मुनिराज अपने घर पर अभिग्रह पूर्वक आहार के लिये पधारें तो नवधा भक्ति के साथ उन्हें आहार देना चाहिये । यह नवधा भक्ति इस प्रकार कही है-१. प्रथम प्रासुक जल झारी में लेकर तीन प्रदक्षिणा दे, २. फिर कहें-महाराज अन्नजल शुद्ध हैं, ३. फिर ऊंचे आसन पर बैठाना, ४. पादप्रक्षालन करना, ५. पूजन करना, ६. मन शुद्ध, ७. वचन शुद्ध, ८. काय शुद्ध, ९. आहार शुद्ध-ये नवधा भक्ति है ।

भिक्षा के प्रकार- मुनीश्वर की भिक्षा के पाँच नाम हैं-गोचरी, अक्षम्रक्षण, भ्रामरी, गर्तपूरण ।

१. जैसे गाय दाता की सम्पत्ति नहीं देखती, चारा चरती हैं । वैसे ही साधु दाता की सम्पत्ति नहीं देखता । वह धनवान हो या निर्धन हो, अपने संयम के पालने के लिए शुद्ध आहार ग्रहण करता है, अतः उसे गोचरी कहते हैं ।

२. जैसे गाड़ी को ऊंगन करके अपने देश पर पहुँचा जाता है वैसे ही मुनिराज संयम पालन के लिए ऊंगन के समान आहार लेकर मोक्ष पहुंचने का प्रयत्न करता है । अतः उसे अक्षम्रक्षण आहार कहते हैं ।

३. जैसे घर में लगी आग को जल आदि से बुझाया जाता है वैसे ही साधु भूख रूप अग्नि को नीरस आदि आहार से बुझाता है । इससे उसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं ।

४. जैसे भ्रमर फूल को बाधा न पहुँचा कर रस ग्रहण करता है वैसे ही साधु दाता को बाधा न पहुँचा कर आहार ग्रहण करता हो अतः उसे भ्रामरी वृत्ति कहते हैं ।

५. जैसे गड्ढे को भरते हैं वैसे ही साधु प्राप्त आहार से पेट के गड्ढे को भरता है । इससे उसे गर्तपूरण कहते हैं ।

श्रुत - अवतरण

श्रुत परम्परा अनादिनिधन है । वर्तमान अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से भगवान ऋषभदेव से श्रुत परम्परा प्रारम्भ हुई और भगवान महावीर तक कभी अविच्छिन्न तो कभी विच्छिन्न रूप में चलती रही । प्रभु महावीर की दिव्यध्वनि से पुनः भूलोक सम्यग्ज्ञान से जगमगा गया और यह दिव्य प्रकाशन निरन्तर अविच्छिन्न रूप से भद्रबाहु प्रभृति आचार्यों भगवन्तों तक रहा । उसके बाद दिव्यप्रकाश रूप श्रुतज्ञान का ह्रास होने लगा । क्रमशः पाँच श्रुतकेवली, ग्यारह महात्मा ग्यारह अंग दस पूर्वधारी, पाँच आचार्य ग्यारह अंगधारी, चार आचार्य आचारांग एकदेश अंग पूर्वों के धारी और और इनके बाद अंगपूर्वों के एकदेश इतानधारियों में आचार्य अर्हद्बलि नामक मुनि हुये । यह महानुभाव श्रुतज्ञान के प्रसार करने, धारण करने और उसे निर्मल बनाने आदि उत्तम क्रियाओं में पूर्ण संलग्न अष्टांग निमित्तों के ज्ञाता तथा मुनि संघ के अनुग्रह निग्रह आदि में पूर्ण समर्थ थे ।

भवगत् आचार्य अर्हद्बलि पंच वर्षीय युगप्रतिक्रमण करते थे । वे इस (युग) प्रतिक्रमण में सौ योजन (लगभग ११४० कि.मी.) तक स्थित साधुओं को बुलाते थे । एक पंच वर्षीय प्रतिक्रमण के लिये जब साधु संघ एकत्रित हुये तब सौराष्ट्र देश में गिरिनगर (जूनागढ) के निकट उर्जयन्त पर्वत (गिरिनारजी) पर चन्द्र नामक गुफा में निवास करने वाले महातपस्वी, मुनियों में श्रेष्ठ तथा अग्रायणी नामक दूसरे पर्व के पंचमवस्तु के अन्तर्गत चौथे महाकर्म प्राभृत के ज्ञाता धरसेन नामक श्रेष्ठ आचार्य ने अपनी अल्पायु जानकर, हमारे द्वारा गम्भीर रूप से अध्ययन किया गया, यह शास्त्र कालान्तर में विच्छेद को प्राप्त न हो जाय ? ऐसा सोचकर वेणाक नदी के किनारे स्थित पुर में, जो कि इन्द्र नामक देश में था- स्थित मुनि समुदाय के प्रति एक ब्रह्मचरी के द्वारा पत्र पहुंचाय । ब्रह्मचारी तीव्र गति से आचार्य अर्हद्बलि संघ में पहुँचा और उन्हें नमोस्तु आदि विनयकर पत्र समर्पित किया । उन महान मूर्ति ने वह पत्र खोला और पढा - जे इस प्रकार था - कल्याण भाजन एवं शोभा युक्त हों, उर्जयन्त पर्वत की तलहटी में स्थित चन्द्र नामक गुफा के आवास से आचार्य धरसेन वेणाक नदी के तट पर एकत्रित मुनिराजों की वंदना कर यह कार्य कहता हूँ कि- हमारी आयु अब अल्प शेष है, इस कारण हमारे द्वारा अधीत शास्त्र (श्रुतज्ञान) का जैसे विच्छेद न हो जावे । अतःग्रहण और धारण करने में समर्थ तीक्ष्ण बुद्धि वाले दो मुनिराज (यहां) भिजवाये जावें ।

बेणाक तटवर्ती मुनिराजोंद्वारा भले प्रकार निश्चय करके उस प्रकार के तीक्ष्ण बुद्धि वाले दो मुनियों का खोजकर धरसेनाचार्य के अनुरोध पर वहां भेजा जहां वे स्थित थे । मुनिद्वय भी शीघ्र ही ऊर्जयन्त गिरि पहुँचने का उद्यम करने लगे ।

एक रात्रि को मुनियों के पहुँचने के पूर्व वहाँ स्थित आचार्य श्री ने दो ऐसे सफेद तरुण बैलों को देखा जो उनके चरणों में पड रहे हैं अर्थात् नमस्कार कर रहे हैं । उस स्वप्न को देखने मात्र से आचार्य देव बोले- "श्रुत (श्री) देवता जयवंत हो ।" प्रातःकाल ही उन्होंने आये हुये दो मुनियों को देखा । बड़े आदर से उन दोनों की अतिथियों के योग्य विधि करके, अपने आगमन हेतु निवेदन करने वाले उन दोनों मुनियों के लिये उचित व्यवहार करके आदरपूर्वक तीन दिन तक विश्राम देकर, अच्छी तरह से परीक्षा हृदय को आनन्द एवं सन्तोष देने वाली होती हैं - ऐसा विचार कर उन दोनों मुनियों का हीन तथा अधिक अक्षर वाली विद्यायें परीक्षार्थ सिद्ध करने को दी ।

दोनों मुनि विद्यायें (मंत्र) लेकर पर्वतराज की उस शिला पर आरूढ हुये जहाँ से भगवान नेमिनाथ ने मुक्तिश्री प्राप्त की थी । अच्छी तरह मंत्र विधि करते हुये उन मुनिराजों के सामने दो देवियाँ (विद्यायें) उपस्थित हुई ।

जिन मुनिराज ने हीन अक्षर वाले मंत्र की आराधना की थी उनके सामने एकनेत्र वाली देवी प्रकट हुई । जिन मुनिराज ने अधिक अक्षर युक्त मंत्र की विधि की थी उनके सामने लम्बे-लम्बे दाँतो वाली देवी प्रकट हुई । वे दोनों धीर वीर मुनिराज उन उपस्थित हुई देवियों को देखकी यह देवताओं का स्वरूप नहीं है - ऐसा सोचकर उन विद्या मंत्रों को व्याकरण विधि से शोध कर न्यून वर्ण वाले मंत्र में उचित वर्ण-मात्रा जोड़कर तथा अधिक वर्ण वाले मंत्र से उचित वर्ण-मात्रा आद हटाकर पुनः साधना में लीन हो गये ।

योग्य कालोपरान्त उन मुनिराजों के सामने पुनः दो देवियाँ प्रकट हुई जो अतिशय रूपवान, केयूर, हार, नूपुर, कटक, कटिसूत्र आदि श्रृंगारों से सहित थीं । उन्होंने मुनिद्वय को लक्ष्य कर कहा-बोलिये हमें क्या करना है ।

मुनिराजों ने आँखे खोली और ऐसा ही देवताओं का रूप है-ऐसा जानकर बोले-हे देवियों ! हमारा तो कुछ भी कार्य नहीं है । न इस लोक सम्बन्धी और न ही परलोक सम्बन्धी, जो आप लोगोंद्वारा सिद्ध किया जाता हो । किन्तु गुरु के आदेश से ही आपको सिद्ध किया है । उन मुनिराजों के इस प्रकार अभीष्ट वचनों को सुनकर वे देवियाँ अपने-अपने स्थान को चली गईं । इसके बाद विद्या का यथायोग्य विसर्जन आदि कर वे

आचार्य गुरुवर श्री धरसेन के चरणों के उपस्थित हुये । नमोस्तु आदि विनय करने के बाद विद्या सिद्धि से संबंधित सम्पूर्ण वृतान्त उन्हें सुना दिया ।

उन मुनिराजों की बात सुनकर सन्तोष को प्राप्त होते हुये आचार्य धनसेन सोचने लगे- "ये दोनों अत्यंत योग्य है ।" ऐसा निर्णय कर उत्तम तिथि, मुहूर्त, नक्षत्र और वार देखकर उन्हें पढाने के लिये आगम ग्रन्थों का व्याख्यान शुरु किया अर्थात् द्वादशांग जिनवाणी, विशेषतया सिध्दान्त संबंधी अध्ययन प्रारम्भ किया ।

आलस्य छोडकर पूरी तरह सजग रहकर अध्ययन करने वाले तथा साथ ही गुरु की आज्ञा का किंचित भी उल्लंघन न करने वाले मुनिराज पूर्ण प्रयत्न चित्त होकर अध्ययन में लीन हो गये । आषाढ मास के शुक्ल पक्ष में एकादशी की तिथि में विधि पूर्वक अध्ययन करते हुये आगम ग्रन्थ का अध्ययन समाप्त किया ।

जिस दिन अध्ययन समाप्त हुआ उसी दिन एक मुनिराज की विषम दन्त पंक्ति को देवों ने सम सुन्दर और धवल करके पुष्पदंत नाम अर्पित किया तथा दूसरे मुनिराज की भी भूतजाति के देवों द्वारा तुरही वादन द्वारा, जय-जय की घोषणाओं के द्वारा तथा सुगन्धित मालाओं, धूप खेवन आदि उत्सवोंद्वारा भूतबली अथवा 'भूतपति' नाम अर्पित किया ।

"इन दोनों मुनिराजों के बारे में शास्त्रों में अधिक जानकारी तो नहीं मिलती, हाँ बिबुध श्रीधर कति ने अपने श्रुतावरतार में जरुन इन्हे बांमिदेश का निवासी बताया है । वहां के राजा नरवाहन एवं राजश्रेष्ठी सुबुद्धि ही आचार्य धरसेन से पढकर पुष्पदंत एवं भूतबलि बनें । इनके मुनि दीक्षागुरु कौन थे तथा दीक्षा नाम क्या रखे गये । यह अभी तक अज्ञात है ।"

जब आचार्य धरसेन अपना गंभीर ज्ञान मुनिद्वय को दे चुके, उसके बाद उन्होंने अपनी आयु की स्थिति अत्यल्प जानकर यह सोचा कि-इन शिष्यों का मुझ पर स्नेह हो गया है, कहीं मेरी समाधि से इन्हें बिषाद न हो जाये, इसलिये प्रिय और हितकारी वचन कहकर, उन्हें अच्छी तरह समझाकर कुरीश्वर नामक स्थान की ओर भेजा । निरन्तर पद बिहार करते हुई वे मुनि नौ दिनों तक अनवरत चलकर उस नगर पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने आषाढ महीने के कृष्ण पक्ष की पत्रचमी को योग धारण कर वर्षाकाल वहीं व्यतीत किया । वर्षा योग पूर्ण कर वे मुनि दक्षिण की ओर विहार करते हुये करहाट देश गये । उनमें जो पुष्पदंत मुनिराज थे उन्होंने अपने जिनपालित नामक भानजे को देखकर उसे दीक्षा प्रदान कर दी और उसके साथ वनवार देश जाकर ठहर गये । भूतबलि मुनि भी द्रविड देशस्थ मथुरा (मदुरै) में ठहर गये ।

कुछ समय पश्चात् पुष्पदंत मुनिराज ने अपने भागनेय जिलपालित को पढाने के लिये छह खण्डों के द्वारा गुणस्थान, जीवस्थान आदि बीस प्रकार की स्त्ररूपणा से युक्त कर्म प्रभृतियों से युक्त प्रकरण का संक्षेप कर सम्यक् रीति से जीवस्थानादि अधिकारों की रचना की । उन्होंने सौ सूत्रों की रचना कर जिनपालित को अच्छी तरह पढाये तथा उनका अर्थ जानने के लिये उसे मुनिराज भूतबलि के पास भेजा । जिनपालित शिष्य बुद्धि से उनसे पास पहुँचा और अपने आप का आशय कह सुनाया तथा आचार्य पुष्पदंत द्वारा रचित सूत्रों को प्रस्तुत किया । जिनपालितद्वारा सम्पूर्ण सूत्र सुनने के उपरान्त जिनवाणी पिपासु भव्य जीवों की अल्प आयु तथा अल्पबुद्धि का जानकर तथा पुष्पदन्त गुरु के षट्खण्डागम की रचना के आशय को जानकर द्रव्य प्ररूपणाधिकार के बाद पुष्पदन्त गुरु द्वारा लिखित जिनपालितद्वारा सुनाये गये सौ सूत्रों सहित छह हजार सूत्रप्रमाण ग्रन्थ रचना कर तीस हजार सूत्रों के ग्रथन पूर्वक छठे महाबन्ध नामक ग्रन्थ को बनाया । उन पाँचो खण्डों के नाम क्रमशः इस प्रकार है- जीवस्थान, क्षुल्लक बंध, बन्ध स्वामित्व, वेदना तथा वर्गणा खण्ड । छठवें महाबंध का नाम पहले ही कह दिया है ।

इस प्रकार भूतबलि महाराज ने षट्खंडागम ग्रन्थ की रचना की । अनन्तर असद्भाव स्थापना से पुस्तकों में आरूढ कर चातुर्वण्य संघ की सन्निधि में ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उन महान ग्रन्थों की विधि पूर्वक पूजा की । इसी कारण से श्रुतपंचमी के रूप में यह दिन ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । इसके बाद आचार्य भूतबलि महाराज ने सम्पूर्ण पुस्तकों को जिनपालित द्वारा पुष्पदन्त गुरु के पास भिजवाया ।

जिनपालित के हाथ में सुस्थित षट्खंडागम ग्रन्थ को भलीभांति देखकर पुष्पदंत गुरु आचार्य पढते हुये बोले- "अरे ! मेरे द्वारा विचारा गया कार्य सम्पन्न हो गया ।" इन शब्दों को कहकर प्रमुदित चित्त होकर चातुर्वण्य संघ की उपस्थिति में उन महान् ग्रन्थों की अर्चना की । परम संयोग की बात यह भी रही कि यह तिथि भी श्रुतपंचमी अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी ही थी ।

"इस प्रकार षट्खंडागम सूत्र की उत्पत्ति का प्ररूपण करके अब कषाय प्राभूत (कसाय पाहुड) सूत्र की उत्पत्ति कही जाती है । यहाँ श्रुतावतार ग्रन्थके कर्ता आचार्य इन्द्रनंदी कहते हैं कि मुझे यह ज्ञात नहीं कि आचार्य धरसेन पहले हुये अथवा आचार्य गुणधर फिरी भी उनके द्वारा कथित सूत्र की उत्पत्ति को कहता हूँ । वर्तमान में कुछ प्रमाणों से आचार्य गुणधर पूर्ववतीर सिद्ध हो रहे हैं ।"

ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्व की दशमवस्तु के तृतीय प्रायोदोष (पेज्जदोस) प्राभूत को जानने वाले गुणधर मुनीन्द्र हुये । उन्होंने जब अपनी देह को शिथिल होते देखा तो एक सौ मूल गाथा सूत्रों से युक्त

तथा त्रेपन वृत्ति गाथाओं से युक्त ग्रंथ की रचना की जिसमें कि कुल पन्द्रह महाधिकार थे । इसे रचकर अपने शिष्य नागहस्ति और आर्य मंक्षु को उसका विशद व्याख्यान किया ।

श्री आर्य मंक्षु एवं नागहस्ति ने अपने गुरु श्री गुणधर से प्रयत्न पूर्वक कसायपाहुड सुत्त का विशद ज्ञान प्राप्त किया । इन दोनों महानुभावों के सानिध्य में बैठकर यतियों में श्रेष्ठ यतिवृषभ नामक मुनि ने आगम शास्त्र के गाथा- सूत्रों एवं अर्थ में निपुणता प्राप्त की । गुरु प्रदत्त सम्पूर्ण आगम का प्रयत्न पूर्वक अध्ययन करके उन्होंने गाथाओं की वृत्ति के रूप में छह हजार गाथा (श्लोक) प्रमाण चूर्णिसूत्रों की रचना की । इनका एक दूसरा प्रसिद्ध "तिलोयपण्णत्ति" नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है ।

इन यतिवृषभाचार्य के निकट उच्चारणाचार्य नामक मुनि ने अध्ययन किया और सम्पूर्ण उपलब्ध आगम की विशद व्याख्या जानकर बारह हजार चूर्णि सूत्रों की व्याख्या में अपने ही नाम से उनके व्याख्यान-विवृत्ति रूप से उच्चारण सूत्र बनाये । इस प्रकार कसायपाहुड (कषाय प्राभूत) नामक आगम ग्रन्थ गाथा, चूर्णि ओर उच्चारण सूत्रों से युक्त है । इनमें से आचार्य गुणधरद्वारा गाथा सूत्र, आचार्य यतिवृषभद्वारा चूर्णि सूत्र तथा उच्चारणाचार्य द्वारा उच्चारणा सूत्र रचे गये ।

इस प्रकार द्रव्य और भाव पुस्तकगत दो प्रकार का सिद्धांतज्ञान गुरु परम्परा से आया हुआ कुण्डकुण्डपुर में पद्मनदी मुनि (कुंदकुंदाचार्य) द्वारा जाना गया । उन्होंने भी बारह हजार गाथा प्रमाण परिक्रम नामक टीका ग्रन्थ की रचना षट्खण्डागम के आदि के तीन खण्डों पर टीका या भाष्य रूप की ।

कुछ समय के अन्तराल में ही शामकुण्ड नामक आचार्य ने दोनों आगम ग्रन्थों-षट्खण्डागम व कसायपाहुड सुत्त को पूरी तरह जानकर बारह हजार गाथा प्रमाण छठा खण्ड जो महाबंध है उसे छोड़कर प्राकृत-संस्कृत तथा कन्नड तीनों भाषाओं में उत्कृष्ट "पध्दति" नामक वृत्ति (टीका) की । सूत्रोंका अथवा वृत्ति के विषय पदों का विश्लेषण कर समझाने वाली व्याख्या "पध्दति" कहलाती है ।

आचार्य शामकुण्ड के कुछ काल बाद तुम्बलूर नामक सुन्दर ग्राम में रहने वाले तुम्बलूर नामक आचार्य हुये उन्होंने भी दोनों सिद्धांतों की चौरासी हजार श्लोक प्रमाण रचना से युक्त कन्नड भाषा में विशाल चूडामणि नामक व्याख्या की तथा छठे वर्गणाखण्ड की सात हजार श्लोक प्रमाण पत्रिका नामक टीका की ।

इसके बाद कालान्तर मे वृद्ध तार्किकसूर्य श्रीमान् समन्तभद्र स्वामी भी हुये उन्होंने भी दोनों सिद्धांत ग्रन्थों को पढ़कर षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर अडतालिस हजार गाथा प्रमाण अत्यन्त सुन्दर टीका लिखी, जो अत्यन्त मृदु संस्कृत भाषा में है । इसके बाद दूरसे कषाय प्राभूत सिद्धांत ग्रन्थ की

टीकालिखने को उद्यम हुये समन्तभद्र स्वामी को उनके एक सहधर्मी ने द्रव्यशुद्धि आदि का विचार रखने के प्रयत्न रहित होने से निषेध कर दिया ।

पुनः इस प्रकार व्याख्यान क्रम को प्राप्त गुरु परम्परा से आया हुआ दोनों प्रकार का सिध्दांतज्ञान तीक्ष्ण बुद्धिवाले शुभनन्दि एवं रविनन्दि गुरु से भीमरथि एवं कृष्णमेध नदियों के मध्यवर्ती गांव के निकट विख्यात मगणवल्ली नामक ग्राम में सुनकर और उन्हीं दोनों के निकट बैठकर बप्पदेव गुरु ने पूरी तरह उसका अध्ययन कर महाबन्ध को छोड़कर षट्खण्डागम के पाँच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीका लिखी तथा षट्खण्डागम के महाबंध नामक छठवें खण्ड पर संक्षिप्त व्याख्या लिखी । षट्खण्डागम की व्याख्या निष्पन्न हो जाने पर साठ हजार गाथाओं प्रमाण कषायप्राभृत की भी व्याख्या लिखी । फिर महाबंध पर पुरातन व्याख्या को प्राकृतभाषा रूप पाँच अधिक साठ हजार गाथा प्रमाण व्याख्या लिखी ।

पुनः कुछ काल तक इन ग्रन्थों पर कोई भी व्याख्या अथवा टीका नहीं लिखी गई । कितना ही काल व्यतीत होने के बाद चित्रकूट पुर निवासी श्रीमान् ऐलाचार्य सिध्दान्त तत्वों के ज्ञाता हुये । उन श्री ऐलाचार्य गुरु के निकट सम्पूर्ण श्रुत सिध्दान्तों को पढकर वीरसेन गुरु ने उपरितम निबन्धनादि आठ अधिकारों को लिखा । तदनन्तर गुरु चरणों में अध्ययन पूर्णकर वे गुरु आदेश से चित्रकूटपुर से वाटग्राम में आकर आनतेन्द्रद्वारा निर्मित जिनमंदिर में ठहर गये । यहाँ पर उन्हें बप्पदेव गुरु रचित "व्याख्या प्रज्ञप्ति" नामक टीका प्राप्त हुई जिसे उन्होंने स्वज्ञान के बल पर पूर्णरूपेण पढा और समझा । पुनः षट्खण्डागम के छठें खण्ड (महाबंध) को छोड़कर शेष पाँच खण्डों की उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकारोंद्वारा 'सत्कर्म' नामक तथा छठे खण्ड को संक्षिप्त कर छह खण्डों की बहत्तर हजार गाथा प्रमाण प्राकृत संस्कृत मिश्रित 'धवला' नामक टीका लिखी । धवलाटीका पूर्ण हो जाने के बाद उन्होंने कषायपाहुड के ऊपर चार विभक्तियों की बीस हजार गाथाओं प्रमाण जयधवल नामक टीका लिखकर स्वर्गवासी हो गये । तत्पश्चात् उनके ही प्रिय एवं तीक्ष्णबुद्धि वाले शिष्य श्री जिनसेनमुनि ने गुरु की अपूर्ण कषायपाहुड व्याख्या को चालीस हजार गाथा प्रमाण लिखकर उसे पूर्ण किया । इस प्रकार कषायपाहुड की जयधवला नामक टीका साठ हजार गाथा प्रमाण हुई ।

वर्तमान में धवला और जयधवला टीकाओं के अलावा प्रायः सभी रचनायें या तो अप्रकाशित हैं या फिर अनुपलब्ध ही हैं, ऐसी स्थिति में श्रुतोद्धार की ओर विज्ञों को दृष्टि डालना अनिवार्य आवश्यक है, जिससे श्रुतज्ञान की आराधना करते हुये हम भी श्रुतकेवली बन जायें ।

श्रुतावकार के अर्धाश अनुवाद रूप में सिध्दान्ताचार्य पं. कैलाशचंद्र शास्त्री जी द्वारा लिखित इस ग्रन्थ को जिसे इन्द्रनन्दि ने श्रुतपंचमी के दिन पूर्ण किया था । (मुनि सुनीलसागर महाराज) मैं भी श्रुतपंचमी के दिन ही इसका भाषानुवाद पूर्ण करता हूँ ।
